खंड

3

हिंदी निबंध

इकाई 11

रामचंद्र शुक्ल और उनका निबंध साहित्य

इकाई 12

'लोभ और प्रीति' की अंतर्वस्तु और विश्लेषण

इकाई 13

हजारीप्रसाद द्विवेदी और उनके निबंध

इकाई 14

'कुटज' की अंतर्वस्तु और विश्लेषण

इकाई 15

'सहस्र फणों का मणि–दीप' (कुबेरनाथ राय) की अंतर्वस्तु और विश्लेषण

परिशिष्ट

व्याख्या हेतु निर्धारित गद्यांश

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

खंड 3 परिचय

प्रस्तुत खंड हिंदी निबंधों के अध्ययन पर आधारित है। इस खंड में हिंदी के तीन विशिष्ट निबंधकार आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और कुबेरनाथ राय के विशिष्ट निबंधों का अध्ययन कराया जाएगा। खंड की इकाई 11 और 12 क्रमशः 'रामचंद्र शुक्ल और उनके निबंध' तथा 'लोभ और प्रीति' (रामचंद्र शुक्ल) का विश्लेषण एवं मूल्यांकन' है। इस पाठ्यक्रम में आप आचार्य रामचंद्र शुक्ल के निबंध 'लोभ और प्रीति' का अध्ययन कर रहे हैं। अतः आपको रामचंद्र शुक्ल का परिचय देने के साथ–साथ हमने उनके निबंधों की विशेषताओं पर भी विचार किया है। इस प्रक्रिया में इकाई 12 में 'लोभ और प्रीति' निबंध की अंतर्वस्तु के साथ–साथ उसके विविध पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। निबंध के अध्ययन की सुविधा हेतु भाव पक्ष एवं विचार पक्ष के अंतर्गत निबंध को विश्लेषित किया गया है जिससे आप निबंध के मूल कथ्य और निबंधकार की दृष्टि को भली–भाँति समझ सकें। इसी क्रम में इकाई 13 एवं 14 क्रमशः 'हजारीप्रसाद द्विवेदी और उनके निबंध' तथा 'कुटज (हजारीप्रसाद द्विवेदी) का विश्लेषण एवं मूल्यांकन' है। इन दोनों इकाइयों में भी आचार्य द्विवेदी के परिचय के समय–साथ उनके निबंध साहित्य की विशेषताओं का परिचय दिया गया है। इकाई 15 'सहस्र फणों का मणि–दीप (कुबेरनाथ राय) का विश्लेषण और मूल्यांकन' है। इस इकाई में निबंध की अंतर्वस्तु पर विचार करने के साथ–साथ उसे विश्लेषित किया गया है।

इकाई 12, 14 एवं 15 में निबंधों के गद्यांशों की व्याख्या भी दी गई है जो आपके लिए सहायक होगी। इससे आप स्वयं निबंध की व्याख्या कर सकेंगे। पाठ्यक्रम में प्रस्तावित निबंध आपको पुस्तकालयों से सहज ही उपलब्ध हो सकेंगे। निबंध से संबद्ध इकाइयों का अध्ययन करने से पूर्व निबंधों को पुस्तकालय से प्राप्त कर उनका वाचन अवश्य करें। 'सहस्र फणों का मणि–दीप' निबंध कुबेरनाथ राय के निबंध संग्रह 'दृष्टि–अभिसार' में संकलित है। इन्हें आप, पुस्तकालय से उपलब्ध कर इनका अध्ययन करें। अध्ययन में कठिनाई हो तो अपने निकटतम अध्ययन केंद्र में जाकर परामर्शदाता से परामर्श करें। खंड के अंत में 'परिशिष्ट' के अंतर्गत 'त्याग-पत्र' (उपन्यास), 'नमक का दारोगा', 'आकाशदीप', 'वापसी' (कहानियाँ) तथा 'लोभ और प्रीति, 'कुटज' एवं 'सहस्र फणों का मणि–दीप' (निबंध) के व्याख्यांश दिए गए हैं। इन्हीं व्याख्यांशों से सत्रीय कार्य एवं सत्रांत परीक्षा में व्याख्या संबंधी प्रश्न पूछे जा सकते हैं। इन्हें ध्यान से पढ़ें और स्वयं इनकी व्याख्या करने का प्रयास करें। पाठ्यक्रम को समझने या व्याख्या संबंधी किसी प्रकार की मुश्किलें आती हैं तो उन्हें आप अपने परामर्शदाता से सुलझाने का प्रयास करें।

इकाई 11 रामचंद्र शुक्ल और उनका निबंध साहित्य

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 आर्चाय रामचन्द्र शुक्ल का संक्षिप्त जीवन परिचय

11.3 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का साहित्य–सर्जन

11.4 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबंध साहित्य की विशेषताएँ

11.5 हिंदी निबंध–साहित्य के विकास में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का योगदान

11.6 सारांश

11.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

11.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप रामचन्द्र शुक्ल के निबंध साहित्य का परिचय दे पाएँगे। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप :

- रामचंद्र शुक्ल का संक्षिप्त जीवन परिचय जान पाएँगे,
- रामचन्द्र शुक्ल के साहित्य सर्जन के बारे में परिचित हो सकेंगे,
- रामचन्द्र शुक्ल के निबंधों की विशेषताएँ बता सकेंगे, और
- हिंदी निबंध–साहित्य के विकास में रामचन्द्र शुक्ल के योगदान को समझा सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

रामचन्द्र शुक्ल हिंदी के सबसे प्रतिष्ठित लेखक और आलोचक हैं। उनकी विद्वत्ता को ध्यान में रखते हुए हिंदी साहित्य जगत उन्हें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के नाम से संबोधित करता है। हम भी इस इकाई में उन्हें आचार्य के रूप में ही संबोधित करेंगे। उन्होंने सबसे पहले हिंदी में व्यवस्थित साहित्य–सिद्धांतों की नींव रखी और उन्हीं आधारों पर उन्होंने हिंदी साहित्य का इतिहास लिखा और हिंदी साहित्य की व्यावहारिक आलोचना की। उन्होंने हिंदी–साहित्य के अध्ययन– अध्यापन के लिए व्यवस्थित रूप से पाठ्यक्रम का निर्माण किया और पाठ्यक्रम उपलब्ध करवाया। इसी के साथ–साथ उन्होंने हिंदी निबंध लेखन किया। आचार्य शुक्ल का यह सारा साहित्यिक कर्म एक दूसरे का पूरक है। इसलिए हम इस इकाई में उनके संपूर्ण साहित्य के संदर्भ में उनके निबंध साहित्य का अध्ययन करेंगे।

11.2 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का संक्षिप्त जीवन परिचय

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जन्म 4 अक्टूबर, 1884 को बस्ती के अगौना नामक गाँव में हुआ और मृत्यु काशी में 2 फरवरी, 1941 को हुई। इनकी प्रारंभिक शिक्षा मिर्जापुर और बाद में प्रयाग में हुई। मिर्जापुर के लंदन मिशन स्कूल से शुक्लजी ने स्कूल की अंतिम परीक्षा सन् 1901 में उत्तीर्ण की। शुक्ल जी ने कायस्थ पाठशाला, प्रयाग से इंटर

किया। आगे उनका संपूर्ण अध्ययन स्वाध्याय से ही हुआ। आचार्य शुक्ल का बचपन अवध क्षेत्र में गुजरा। आरंभिक शिक्षा के साथ उन्होंने उर्दू, अंग्रेजी, बंगला और हिंदी भाषा और साहित्य का गंभीर अध्ययन किया। मिर्जापुर में उनका संपर्क भारतेंदु युग के महत्वपूर्ण रचनाकार चौधरी बदरीनारायण प्रेमघन से हुआ। इससे उन्होंने भारतेंदु युग के साहित्य को तो जाना–समझा ही, समकालीन साहित्य की गतिविधियों से भी जुड़े। सन् 1903–08 तक शुक्लजी ने 'आनंद कादम्बिनी' पत्रिका के संपादन में चौधरी बदरीनारायण प्रेमधन का सहयोग किया। इस कार्य से उन्हें भाषा और संपादन की समझ विकसित हुई। इसी दौरान उनके साहित्य लेखन का प्रारंभ भी हो चुका था। 'कविता क्या है' निबंध का प्रारंभिक रूप सन् 1909 की 'सरस्वती' में प्रकाशित हो चुका था। स्कूली शिक्षा समाप्त होने के कुछ महीनों के बाद सन् 1904 से 1908 तक वे लंदन मिशन स्कूल में ड्राइंग के शिक्षक रहे। इस तरह शुक्लजी के लेखन की दिशा तय करने में मिर्जापुर का जीवन महत्वपूर्ण रहा।

सन् 1908 में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल मिर्जापुर से काशी आ गए। यहाँ उन्हें काशी नागरी प्रचारिणी सभा में निर्मित होने वाली 'हिंदी शब्द सागर' की महत्वाकांक्षी परियोजना में सहायक संपादन का दायित्व सौंपा गया। उस समय शुक्ल जी की उम्र लगभग 24–25 वर्ष की थी। उनका बाद का सारा जीवन काशी में ही बीता। इस कोश के प्रधान संपादक बाबू श्यामसुंदर दास थे। इस कोश में बालकृष्ण भट्ट, लाला भगवान दीन बाबू अमीर सिंह, बाबू जगमोहन वर्मा ने भी कार्य किया। ये लोग इस परियोजना में कभी जुड़ते रहे, कभी निकलते रहे, लेकिन रामचन्द्र शुक्ल इसमें अंत तक बने रहे। सन् 1927 ई. में इस कोश का कार्य पूरा हुआ। इस कोश की लंबी भूमिका आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखी। यह भूमिका बाद में परिवर्तित रूप में 'हिंदी साहित्य का इतिहास' के रूप में प्रकाशित हुई। नागरी प्रचारिणी सभा इस समय आधुनिक साहित्य के निर्माण की केन्द्रीय संस्था बन गई थी। सारे लेखक किसी न किसी रूप में सभा से जुड़े हुए थे। उस समय हिंदी के प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों की खोज का कार्य भी जोर शोर से चल रहा था। इन खोजों की रिपोर्ट प्रकाशित होती थी। सभा में उन पर चर्चा हुआ करती थी। इन चर्चाओं में शुक्लजी भाग लिया करते थे। शब्दकोश के निर्माण के लिए भी विद्वानों में शब्दों को लेकर चर्चा चला करती थी। इस कोश के निर्माण में आचार्य शुक्ल की भूमिका को लेकर बाबू श्यामसुंदरदास ने लिखा ''इस कोश के कार्य में आरंभ से लेकर अंत तक पण्डित रामचन्द्र शुक्ल का संबंध रहा है और उन्होंने इसके लिए जो किया है, वह विशेष रूप से उल्लिखित होने योग्य है। यदि यह कहा जाए कि शब्द–सागर की उपयोगिता और सर्वांगपूर्णता का अधिकांश श्रेय पंडित रामचन्द्र शुक्ल को प्राप्त है, तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। एक प्रकार से यह उन्हीं के परिश्रम, विद्वत्ता और विचारशीलता का फल है। इतिहास, दर्शन, भाषा विज्ञान, व्याकरण, साहित्य आदि सभी विषयों का समीचीन विवेचन प्रायः उन्हीं का किया हुआ है। यदि शुक्ल जी सरीखे विद्वान की सहायता प्राप्त न होती तो केवल एक या दो सहायक संपादकों की सहायता से यह कोश प्रस्तुत करना असंभव ही होता।''

सन् 1919 में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का चयन काशी हिंदू विश्वविद्यालय के प्रध्यापक के रूप में हुआ। उस समय श्याम सुंदर दास यहाँ हिंदी विभाग के अध्यक्ष थे। उस समय शुक्लजी 'हिंदी शब्द सागर' परियोजना के सहायक संपादक के साथ–साथ काशी हिंदू विश्वविद्यालय में प्राध्यापक भी थे। सन् 1937 में श्याम सुंदर दास के निधन के बाद आचार्य शुक्ल हिंदी विभाग के अध्यक्ष बने और फिर जीवनपर्यन्त 1941

तक हिंदी विभाग के अध्यक्ष रहे। उस दौर में हिंदी साहित्य को पढ़ाने के लिए पाठ्यसामग्री का अभाव सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य था। शुक्लजी ने इस कार्य में हाथ लगाया। सन् 1919 से वे छात्रों को पढ़ाने के क्रम में वे हिंदी साहित्य का इतिहास के नोट्स तैयार कर रहे थे। यह कार्य उन्होंने 'हिंदी शब्द सागर' के संपादन के दौरान भी किया था। इस ग्रंथ की भूमिका को सुधार–संवार कर उन्होंने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' लिखा। अब हिंदी साहित्य का ढाँचा बनकर तैयार हो गया था। जिसे छात्रों के साथ–साथ कोई भी हिंदी प्रेमी पढ़–समझ सकता था। इस क्रम में शुक्लजी ने सूरदास के 'भ्रमरगीत' संबंधी पदों को इकट्ठा किया तथा उसकी विस्तृत भूमिका लिखी। इसी तरह 'जायसी ग्रंथावली' का संपादन किया तथा उसकी भी लंबी भूमिका लिखी। शुक्लजी के इस कार्य को आलोचना और प्राध्यापकीय आलोचना के मेल के रूप में देखा जा सकता है। अन्य शैक्षिणिक कार्यों के अलावा विश्वविद्यालय में उनका यह उल्लेखनीय कार्य था।

इस बीच शुक्लजी ने काव्यशास्त्र और साहित्य सिद्धांतों का भी गंभीर मनन किया, जिसको हम उनकी पुस्तक 'रस मीमांसा' और 'चिंतामणि' में देख सकते हैं। 'चिंतामणि' में उन्होंने मनोविकार संबंधी निबंधों के साथ–साथ साहित्य–सिद्धांतों का भी विश्लेषण–मूल्यांकन किया। अब तक शुक्लजी को राष्ट्रीय ख्याति स्थापित हो चुकी थी। 'चिंतामणि' पर उन्हें अत्यंत प्रतिष्ठित मंगला प्रसाद पारितोषिक प्रदान किया गया था। यह पुरस्कार काशी के मंगला प्रसाद परिवार द्वारा साहित्य के क्षेत्र में विशेष योगदान देने वाले लेखक को दिया जाता था। इसकी स्थापना पुरुषोत्तमदास टंडन ने की थी, जो हिंदी साहित्य सम्मेलन द्वारा दिया जाता था। उस दौर में यह पुरस्कार इतना अधिक प्रतिष्ठित था कि जिस कृति पर यह पुरस्कार दिया जाता था, उसके अगले संस्करणों में यह प्रकाशित किया जाता था कि इस पुस्तक को मंगला प्रसाद पारितोषिक प्रदान किया गया है। यह पारितोषिक ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की प्रतिष्ठा की सार्वजनिक स्वीकृति था । यदि उन्हें यह पुरस्कार न दिया गया होता, तो इतिहास में इस बात का उल्लेख होता कि उन्हें मंगला प्रसाद पारितोषिक नहीं दिया गया। तब यह पारितोषिक ही संदेहास्पद हो जाता।

काम के बोझ और अतिरिक्त व्यस्तता के कारण वे अपने स्वास्थ्य का ध्यान नहीं रख पाते थे। इस कारण अपने सेवा काल के दौरान ही 2 फरवरी, सन् 1941 को ह्रदयगति के रुक जाने से उनकी मृत्यु हो गई।

बोध प्रश्न

1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल का जन्म कब और कहाँ हुआ था ?

 ....

 ....

 ....

2. नागरी प्रचारिणी सभा से आचार्य शुक्ल का जुड़ाव किस प्रकार का था?

 ....

 ....

 ....

3. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

   क) शुक्ल जी ने काव्यशास्त्र और .... का भी गंभीर मनन किया।

   ख) .... पर उन्हें मंगला प्रसाद पारितोषित प्रदान किया गया।

   ग) उन्होंने .... का संपादन किया।

   घ) सन् 1903–08 तक शुक्ल जी के .... पत्रिका के संपादन में सहयोग किया।

11.3 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का साहित्य–सर्जन

डॉ. रामविलास शर्मा का मत है कि हिंदी आलोचना में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का वही महत्व है, जो हिन्दी साहित्य में उपन्यासकार प्रेमचंद का और कवि निराला का। अर्थात् रामचन्द्र शुक्ल हिंदी आलोचना के सबसे समर्थ हस्ताक्षर हैं। उनकी आलोचना को हम तीन हिस्सों में बाँट सकते हैं– मिर्जापुर का दौर, काशी नागरी प्रचारिणी सभा का समय और हिंदी विभाग, बनारस हिंदू विश्वविद्यालय का युग। उनके लेखन का प्रारंभ मिर्जापुर में हो गया था। उस समय उनकी कुछ कविताएँ, लेख और अनुवाद प्रकाशित हुए थे। सन् 1903 में उनकी एक कहानी प्रकाशित हुई थी– 'ग्यारह वर्ष का समय'। हिंदी कहानी के इतिहास पर चर्चा करते हुए विद्वान लोग इस कहानी की भी चर्चा करते हैं। सन् 1901 के आसपास उनके लेख तत्कालीन प्रतिष्ठित पत्रिका 'सरस्वती' में प्रकाशित होने लगे थे। बाद में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी उनकी रचनाओं को महत्व देकर प्रकाशित किया। सन् 1898–99 में उन्होंने एडिसन की रचना का अनुवाद 'कल्पना का आनंद' के नाम से किया। इसी तरह 'मेगस्थनीज़ का भारतवर्ष वर्णन' का भी उन्होंने अनुवाद किया। सन् 1903–08 तक वे चौधरी बदरीनारायण 'प्रेमघन' की पत्रिका 'आनंद कादंबिनी' के नए सहायक संपादक बनाए गए। इस दौर में उन्होंने कई हिंदी लेखकों के संस्मरण और जीवन चरित भी लिखे। इनमें 'प्रेमघन की छाया–स्मृति' और जीवन चरित भी लिखे। इनमें 'प्रेमघन की छाया–स्मृति' और फ्रेडरिक पिंकाट पर लिखे हुए लेखों को बहुत सराहना मिली।

नागरी प्रचारिणी सभा में आने के पश्चात् भी शुक्लजी का लेखन कार्य बदस्तूर जारी रहा। हिंदी भाषा के विकास के लिए स्थापित 'काशी नागरी–प्रचारिणी सभा' का हिन्दी आलोचना विकास में बहुत योगदान था। सभा ने प्राचीन साहित्य को खोज निकालने का कार्य तो किया ही था, साथ ही हिंदी भाषा का व्याकरण, हिंदी शब्दकोश और हिंदी साहित्य का इतिहास लिखने–लिखवाने में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इसके साथ–साथ सभा की अपनी पत्रिका निकलती थी। सन् 1909 से 1914 तक आचार्य शुक्ल नागरी प्रचारिणी पत्रिका के संपादक बने। ''हिंदी शब्द सागर'' की लंबी भूमिका सन् 1927 में ''हिंदी भाषा का विकास'' शीर्षक से लिखी, जो आगे चलकर ''हिंदी साहित्य का इतिहास'' की आधार बनी। इसी तरह 'विश्व प्रपंच' की भूमिका एवं वैज्ञानिक ग्रंथ का अनुवाद किया। इस दौर में शुक्लजी अनुवादक के रूप में भी सक्रिय रहे। भाव और मनोविकार संबंधी अधिकांश निबंधों का प्रारंभिक रूप इसी दौर में लिखा गया, जिसे शुक्लजी ने सुधार–परिष्कार करके 'चिंतामणि' में प्रकाशित किया।

तीसरे दौर में शुक्लजी काशी हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में आ गए थे। यहाँ आकर उन्होंने हिंदी के छात्रों के लिए स्तरीय पाठ्य सामग्री के निर्माण, संपादन और लेखन पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। 'भ्रमरगीत सार' और 'जायसी ग्रंथावली' का

संपादन और उनकी लंबी भूमिकाएँ इस दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य हैं। इन सबके अतिरिक्त सबसे बड़ा कार्य 'हिंदी साहित्य का इतिहास' है। यह ग्रंथ पहली बार सन् 1929 में प्रकाशित हुआ। इसका संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण सन् 1941 में आया। इसमें शुक्लजी की कामना थी कि ''मुझे अपने साहित्य का एक पक्का और व्यवस्थित ढाँचा खड़ा करना था न कि कवि–कीर्तन करना।'' 'साहित्य का इतिहास' संबंधी अपने दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा, ''प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ–साथ साहित्य के स्वरूप में परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य–परंपरा के साथ सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है। जनता की ''चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक और धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है।'' यह पूरा ढाँचा तो उन्होंने रखा ही, साथ ही हिंदी साहित्य के इतिहास का काल–विभाजन भी किया, जो थोड़े बहुत फेर बदल के बाद आज भी यथावत मौजूद है। उन्होंने आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिक काल के रूप में इसका विभाजन किया। मध्यकाल के उन्होंने दो विभाजन किए–पूर्व मध्यकाल और उत्तर मध्यकाल। इन सब कालों के साहित्यिक नामकरण भी उन्होंने किए। आदिकाल को वीरगाथा काल, पूर्व मध्यकाल को भक्तिकाल, उत्तर मध्यकाल को रीतिकाल और आधुनिक काल को गद्य काल नाम से परिभाषित किया। इस इतिहास में वर्णित किसी भी कवि के बारे में आज भी जब कोई आलोचक टिप्पणी करता है तो सबसे पहले वह यह अवश्य देख लेता है कि शुक्लजी ने इस कवि के बारे में क्या कहा है।

इसके साथ ही शुक्ल जी ने हिंदी आलोचना को संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रभाव से मुक्त किया तथा हिंदी का अपना व्यवस्थित शास्त्र निर्मित किया। 'रस मीमांसा' इस दृष्टि से महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसी तरह संस्कृत काव्यशास्त्र में जो कमियाँ रह गई थीं, उनकी पूर्ति करने का प्रयास भी उन्होंने किया। ''चिंतामणि'' भाग एक के निबंधों को इसी दृष्टि से पढ़ा जाना चाहिए।

इस तरह लेखन के क्षेत्र में उनकी प्रमुख रुचियों को हम इस प्रकार से समझ सकते हैं– आलोचना, साहित्य सिद्धांत, संपादन, पाठ्यसामग्री का निर्माण, हिंदी साहित्य का इतिहास, कविता–कहानी का लेखन, संस्मरण एवं अन्य विधाएँ। इन सब क्षेत्रों में शुक्लजी ने महत्वपूर्ण कार्य किया।

11.4 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबंध साहित्य की विशेषताएँ

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का निबंध साहित्य उनकी पुस्तक ''चिंतामणि'' में संकलित है। इस पुस्तक का प्रकाशन 1939 में हुआ, जब वे जीवित थे। पहले इस पुस्तक का नाम ''विचार वीथी'' (1930) था जिसे शुक्लजी ने बदल दिया। इस संकलन में भाव और मनोविकार संबंधी 10 निबंध और 7 अन्य निबंध थे। इनमें से प्रारंभिक 10 निबंध ही ललित निबंधों की श्रेणी में आएँगे, शेष निबंध काव्यशास्त्र और आलोचना से संबंधित है। इन निबंधों का अध्ययन ललित निबंधों के अंतर्गत नहीं किया जा सकता। शुक्लजी की मृत्यु के बाद उनके तीन अन्य निबंधों को शामिल करके एक नया संकलन तैयार किया गया और उसे ''चिंतामणि'' भाग 2 शीर्षक दिया। इस तरह शुक्ल जी की मूल पुस्तक का शीर्षक बदलकर ''चिंतामणि भाग 1'' हो गया। इसका संपादन विश्वनाथ

प्रसाद मिश्र ने किया और यह पुस्तक सन् 1945 में प्रकाशित हुई। इसके बाद 1983 में शुक्लजी के प्रकाशित 21 निबंधों को मिलाकर 'चिंतामणि भाग 3' शीर्षक पुस्तक तैयार हुई। इसका संपादन नामवर सिंह ने किया। शोधकर्ताओं ने शुक्लजी के कुछ और निबंध खोजे। कुछ अंग्रेजी निबंधों का हिंदी अनुवाद किया और 'चिंतामणि भाग 4' पुस्तक तैयार की। इस पुस्तक में उनके कुल 47 निबंध शामिल किए गए। इसका संपादन कुसुम चतुर्वेदी और ओम प्रकाश सिंह ने किया। यह पुस्तक सन् 2002 में प्रकाशित हुई। इस तरह उनके कुल 89 निबंध हुए।

शुक्लजी के इन निबंधों को दो भागों में बाँटा जा सकता है– मनोविकार संबंधी ललित निबंध और आलोचनात्मक निबंध। आलोचनात्मक निबंधों में सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों तरह के निबंध शामिल किए जा सकते हैं। इनका अध्ययन शुक्लजी की आलोचना और काव्यशास्त्रीय चिंतन के भीतर किया जाना चाहिए। निबंध साहित्य के अध्ययन में भाव और मनोविकार संबंधी निबंधों का ही अध्ययन होता है और होना भी चाहिए। इस इकाई में हम इन्हीं निबंधों का अध्ययन करेंगे।

आचार्य शुक्ल ने 'चिंतामणि' की एक अति संक्षिप्त भूमिका लिखी। इस भूमिका में उनके निबंधों की कुछ विशेषताएँ उन्होंने स्वयं ही बता दी हैं। भूमिका को शुक्लजी ने ''निवेदन'' के रूप में कहा है। उन्होंने लिखा है ''इस पुस्तक में मेरी अन्तर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि पर हृदय को साथ लेकर। अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुँचती है, वहाँ हृदय थोड़ा बहुत रमता और अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया। इस प्रकार यात्रा के श्रम का परिहार होता रहा है। बुद्धि पथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ-न- कुछ पाता रहा है। बस, इतना ही निवेदन करके इस बात का निर्णय मैं विज्ञ पाठकों पर छोड़ता हूँ कि ये निबंध विषय–प्रधान हैं या व्यक्ति–प्रधान।'' यह 'निवेदन' उन्होंने 2 फरवरी, 1939 को काशी में कहा है।

इन निबंधों का विषय, जिसे शुक्लजी ने 'प्रदेश' की संज्ञा दी है, हृदय में स्थित भाव और मनोविकार हैं, लेकिन इनका लेखन, विश्लेषण और मूल्यांकन बुद्धि द्वारा किया गया है। अर्थात् अंतिम विश्लेषण में ये निबंध बुद्धि प्रधान कहे जाएँगे। लेकिन इनमें शुद्ध बौद्धिक विवेचन नहीं है। कहीं–कहीं शुक्लजी ने अपने हृदय–गत भावों को भी वाणी दी है। जहाँ शुक्ल जी ने ऐसा किया है, वहाँ ये निबंध अधिक 'मार्मिक' और 'भावाकर्षक' हो गए हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि ये निबंध इन प्रस्तुत भावों का साक्षात्कार नहीं कराते, वरन् उनके स्वरूप को स्पष्ट करते हैं और यह बौद्धिक व्यापार है। शुक्लजी के समय में निबंधों के स्वरूप को लेकर काफी बहसें होती रही हैं। उन्हीं के संदर्भ में उन्होंने 'विज्ञ पाठकों' से हलका सा परिहास किया है कि वे इनको चाहें तो 'विषय–प्रधान' निबंध कहें या 'व्यक्ति प्रधान'। आगे चलकर जब आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबंध आए, तब इसी मानक के आधार पर 'विज्ञजनों' ने शुक्लजी के निबंधों को 'विषय प्रधान' और द्विवेदी जी के निबंधों को 'व्यक्ति–प्रधान' कहकर निबंध के स्वरूप को समझाना प्रारंभ किया।

शुक्लजी से पहले भी, भारतेंदु युग के लेखकों ने इस तरह के निबंध लिखे थे। प्रताप नारायण मिश्र ने भी चिंता, छल, खुशामद जैसी वृत्तियों पर छिटपुट निबंध लिखे थे। अन्य लेखकों ने भी ऐसे निबंध लिखे थे, जिनमें विचार और परिहास का अद्भुत मिश्रण हुआ करता था। तब भी इतनी गंभीरता से इन भावों का विवेचन किसी ने नहीं किया था।

आचार्य शुक्ल के निबंधों की विशेषताएँ जानने से पूर्व हमें यह जान लेना चाहिए कि उन्होंने ये निबंध क्यों लिखे। दरअसल आचार्य रामचन्द्र शुक्ल साहित्य सिद्धांतों के जानकार, व्याख्याकार के साथ–साथ सिद्धांतों के सर्जक भी हैं। उन्होंने विस्तार से संस्कृत काव्यशास्त्र का गहन अध्ययन किया। संस्कृत आचार्यों के बीच भरत के रस–सूत्र पर गहन विचार मंथन हुआ है। भरत का सूत्र है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस सूत्र के एक–एक बिंदु को लेकर पर्याप्त विचार–विमर्श हुआ है। इनमें से एक प्रश्न यह भी उठा कि इस रस सूत्र में भरत ने स्थायी भाव का उल्लेख क्यों नहीं किया। गणेश त्र्यंबक देश पाण्डेय ने इस प्रश्न पर विचार करते हुए रस की दो परंपराओं का उल्लेख किया है। एक परंपरा मानती है कि स्थायी भाव ही रस होता है, इसलिए भरत ने इसका उल्लेख नहीं किया। दूसरी परंपरा कहती है कि रस स्थायी विलक्षण होता है, इसलिए भरत ने उसका उल्लेख नहीं किया। यह दूसरी परंपरा अभिनवगुप्त की थी, जो आगे चलकर संपूर्ण भारतीय बौद्धिक समाज की मूल मान्यता बन गई।

इस बहस के बीच में शुक्लजी ने यह महसूस किया कि संस्कृत में इन स्थायी भावों का कहीं कोई स्वरूप विवेचन ही नहीं मिलता। किसी आचार्य ने इसकी आवश्यकता महसूस नहीं की कि इन भावों का स्वरूप विश्लेषण कर दे। फिर सिर्फ स्थायी भावों का ही क्यों, अन्य भावों का भी कोई मनोवैज्ञानिक और सामाजिक विवेचन पाठकों को नहीं मिलता। अतः रामचंद्र शुक्ल आचार्य ने संस्कृत काव्यशास्त्र की इस कमी को दूर करने के लिए भाव और मनोविकार के बारे में सोचना आरंभ किया। जब सोचना आरम्भ किया तो अनेक नई बातें अनजाने ही इसमें जुड़ती चली गईं। इसलिए ये निबंध सिर्फ मनोविकार संबंधी वैचारिक निबंध नहीं हैं। यह शुक्ल जी के काव्यशास्त्रीय चिंतन के आधार हैं। अतः ये भी शास्त्रीय निबंध है। इस कारण शुक्लजी ने ''चिंतामणि'' में इन भावों के विवेचन के तुरन्त बाद ''कविता क्या है'' निबंध को सम्मिलित किया। ''कविता क्या है'' निबंध को समझने के लिए शुक्लजी के भाव–विवेचन को पढ़ना जरूरी है।

संस्कृत की आत्मवादी काव्य परंपरा भावों को शाश्वत मानती है। उनमें न तो परिवर्तन होता है और न विकास होता है। शुक्लजी इस धारणा को नहीं मानते। उनके भाव–विवेचन का प्रारंभ इस मान्यता से होता है कि मनुष्य सुख और दुःख की दो जोड़ी अनुभूतियों को लेकर पैदा होता है। ''सुख और दुःख'' की मूल अनुभूति ही विषय भेद के अनुसार प्रेम, हास, उत्साह, आश्चर्य, क्रोध, भय, करुणा, घृणा, इत्यादि मनोविकारों का जटिल रूप धारण करती है।

इस तरह शुक्लजी के अनुसार भाव विकसित होते हैं। वे परिवर्तित होते हैं और समय पाकर किसी दूसरे भाव में रूपांतरित भी हो जाते हैं। जैसे शुक्लजी ने लिखा कि 'बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है' अर्थात् कई दिनों तक क्रोध रहने से वह बैर में बदल जाता है। ऐसे ही वे अन्य भावों के रूपांतरण का भी उदाहरण देते हैं। दूसरे शुक्लजी का मानना है कि भाव अपनी प्रकृति में सामाजिक होते हैं। उनका 'शेष सृष्टि के साथ' रिश्ता होता है। उसी के साथ वे विकसित होते हैं या विकसित होने चाहिए।

शुक्लजी के अनुसार ''जिस प्रकार जगत अनेक रूपात्मक है उसी प्रकार हमारा हृदय भी अनेक भावात्मक है। इस अनेक भावों का व्यायाम और परिष्कार तभी हो सकता है जबकि उन सबका प्रकृत सामंजस्य जगत् के भिन्न–भिन्न रूपों और व्यापारों के साथ हो जाए। जब तक यह सामंजस्य पूरा–पूरा न होगा, तब तक यह नहीं कहा जा

सकता कि कोई पूरी तरह जी रहा है।'' उनका यह भी मत है कि शील या चरित्र का मूल भी भावों के विशेष प्रकार के संगठन में ही समझना चाहिए। लोकरक्षा और लोकरंजन की सारी व्यवस्था का ढाँचा इन्हीं पर ठहराया गया है।

इसके साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि शुक्लजी ज्ञान विरोधी भावुकता का कभी समर्थन नहीं करते। वे 'बच्चन' की तरह बुद्धि और हृदय के द्वंद्व को भी नहीं मानते। उनका स्पष्ट मत है कि ''ज्ञान–प्रसार के भीतर ही हृदय–प्रसार होता है और हृदय–प्रसार ही काव्य का सच्चा लक्ष्य है।''उनके अनुसार ज्ञान का संबंध दर्शन से और भाव का संबंध कविता से होता है। ''विचार या दर्शन जहाँ भाव का सहारा लेकर आता है, तभी वह काव्य क्षेत्र में प्रविष्ट हो पाता है।'' यहाँ तक कि वे कल्पना को भी भाव के अधीन रखते हैं।

यहाँ आकर वे भाव का संबंध कविता से जोड़ते हैं। भाव का परिष्कार जरूरी है, लेकिन यह परिष्कार सिर्फ भाव के स्तर पर संभव नहीं है। शेष सृष्टि के साथ भाव का संपर्क होना चाहिए। यह कार्य कविता करती है। उनके अनुसार कविता मनुष्य के हृदय को व्यक्तिगत संबंध के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक सामान्य भावभूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत के नाना रूपों और व्यापारों के साथ उसके प्रकृत संबंध का सौन्दर्य दिखाई पड़ता है। इस सौन्दर्य के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार ओर जगत के साथ हमारे रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह होता है।

जिन धार्मिक और रहस्यवादी संतों ने 'भाव–दमन' के उपदेश दिए हैं, शुक्लजी उनका विरोध करते हैं। वे उन लोगों से भी सहमत नहीं हैं, जो कोमल और रुचिकर भावों का तो समर्थन करते हैं, लेकिन शेष भावों का विरोध करते हैं। इस भावपरक दृष्टि के कारण उन्होंने कबीर, टॉलस्टाय, गाँधीजी आदि का विरोध किया है। साहित्य में आध्यात्मिकता की चर्चा को भी वे ठीक नहीं समझते। शुक्लजी तो यहाँ तक मानते हैं कि भाव ही कर्म के प्रेरक होते हैं। शुद्ध बुद्धि की प्रेरणा, से मनुष्य कोई काम करता ही नहीं। इसके साथ ही वे मूल्यहीन भाववाद का समर्थन नहीं करते। वे सभी भावों के उचित सामंजस्य की वकालत करते हैं। यह सामंजस्य लोक मंगल द्वारा स्वतः घटित हो जाता है। उनका मानना है कि ''समस्त मानव जीवन के प्रवर्तक, भाव या मनोविकार होते हैं। मनुष्य की प्रवृत्तियों की तह में अनेक प्रकार के भाव ही प्रेरक के रूप में पाए जाते हैं। शील या चरित्र का मूल भी भावों के विशेष प्रकार के संगठन में ही समझना चाहिए। लोक रक्षा और लोकरंजन की सारी व्यवस्था का ढाँचा इन्हीं पर ठहराया गया है।''

अपने इसी दृष्टिकोण के कारण कविता को भाव–व्यापार मानने के बावजूद हिंदी साहित्य का इतिहास लिखते हैं और इतिहास में तथ्यों को महत्व देते हैं। इस तरह वे स्वतः ही संस्कृत की रसवादी धारा से अपने आपको अलग कर लेते हैं। राजनीतिक रूप से शुक्लजी तिलक के करीब हैं। राजनीतिक दृष्टिकोण का सार–संक्षेप करते हुए कहा जा सकता है कि शुक्लजी राजनीतिक दृष्टि से साम्राज्यवाद विरोधी हैं। वे जातीय उत्पीड़न, भाषायी भेदभाव और सांस्कृतिक अवमानना के विरुद्ध हैं। भावावेग प्रेरित स्वाधीनता संग्राम में उनका यकीन रहा है। वे गाँधीजी की मान्यताओं के समर्थक कभी नहीं रहे। साम्यवाद और समाजवाद का भी उन्होंने यदाकदा विरोध ही किया है। राम के आदर्श रूप पर मुग्ध शुक्लजी अन्याय के प्रतिकार में यकीन रखते हैं। ईश्वर में विश्वास करते हुए भी वे साहित्य की लौकिक व्याख्या करते हैं। भावपरक दृष्टि और लोकमंगल की अवधारणा के अंतर्संघर्ष में वे भाव के पक्ष में खड़े रहते हैं।

बोध प्रश्न

4. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

   क) शुक्ल जी ज्ञान विरोधी .... का समर्थन नहीं करते।

   ख) 'चिंतामणि भाग–3' का संपादन .... ने किया।

   ग) शुक्ल जी के निबंध .... में संकलित है।

   घ) बैर क्रोध का .... या .... है।

   ङ) आचार्य शुक्ल इतिहास में ....को महत्व देते हैं।

5. हिंदी निबंध साहित्य के विकास में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का महत्व बताइए। (लगभग 10 पंक्तियों में)

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

11.5 हिंदी निबंध-साहित्य के विकास में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का योगदान

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक काल को 'गद्य काल' का नाम दिया है। अर्थात् इस दौर में गद्य की विभिन्न विधाओं का प्रचुर मात्रा में विकास हुआ और ऐतिहासिक दृष्टि से यह सबसे महत्वपूर्ण है। इसके साथ ही उन्होंने कहा कि ''यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबंध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबंधों में ही सबसे अधिक संभव होता है।'' इसका अर्थ यह है कि आधुनिक काल की सबसे प्रभावशाली विधा निबंध है। हालाँकि मात्रा की दृष्टि से पाठकों की संख्या उपन्यास और कहानी की अधिक है, लेकिन भाषा के महत्व की दृष्टि से कथेतर गद्य–विधा 'निबंध' महत्वपूर्ण है। शुक्लजी ने अपने ''हिंदी साहित्य का इतिहास'' में निबंध के विकास को महत्व देकर उल्लिखित किया है।

हिंदी में निबंध का आगमन प्रेस और साहित्यिक पत्रकारिता के साथ होता है। आरंभिक हिंदी साहित्यिक पत्रिकाओं में निबंध अनिवार्य रूप से होता था। दरअसल, यह शिक्षित वर्ग की पाठ्य विधा है। कविता को हम सुन भी सकते हैं, परंतु निबंध का आस्वाद लेने के लिए आपको शिक्षित होना अनिवार्य है। निबंध का यह पाठक प्रबुद्ध भी होना

चाहिए। अपने ज्ञान को लगातार विकसित करने की चेष्टा करने वाला पाठक ही निबंध पढ़ता है अर्थात् यह मनोरंजक विधा नहीं है। मनोरंजन के लिए वह कहानी पढ़ सकता है। निबंध का पाठक कुछ जानना–समझना चाहता है। लेखक भी उसे कुछ बताना चाहता है। भले ही वह हल्के–फुल्के ढंग से बताए। भले ही हास–परिहास करते हुए बताए, तब भी निबंध लेखक के पास कुछ बात या विचार होने चाहिए। ये विचार गंभीर और मौलिक होने चाहिए। पुरानी बातों को पाठक निबंध में नहीं पढ़ना चाहता। इस दृष्टि से आप शुक्ल जी के निबंधों को देख–परख सकते हैं।

शुक्लजी ने जिन भावों और मनोविकारों पर लिखा है, उनके स्वरूप को उदाहरण देकर बारीकी से समझाया है। इस समझाने के लिए जहाँ आवश्यकता महसूस हुई है, वहाँ उन्होंने अन्य भावों और मनोविकारों से तुलना करके भी समझाया है। इस पाठ्यक्रम में आप आचार्य शुक्ल के निबंध 'लोभ और प्रीति' का अध्ययन कर रहे हैं। लोभ, प्रीति, श्रद्धा, भक्ति, चारों एक ही तरह के भाव है। शुक्लजी ने निबंध में सबको अलग–अलग समझाते हुए एक दूसरे से तुलना करके स्पष्ट किया है कि दरअसल लोभ और प्रीति में या श्रद्धा और भक्ति में क्या समानता है और क्या असमानता है।

दरअसल, प्रत्येक निबंध का एक केन्द्रीय विचार होता है। शुक्लजी उस केन्द्रीय विचार को समझाते हैं। आगे चलकर उस विचार का विकास होता है। उस विचार के जितने आयाम हो सकते हैं, शुक्लजी सबके बारे में बताते जाते हैं। उनका प्रत्येक निबंध सुगठित होता है। प्रत्येक पंक्ति में कोई बात होती है, जो नई होती है। फिर उसके उदाहरण आते हैं, तुलना होती है। यदि कहीं हास्य–व्यंग्य भी आता है तो शुक्लजी उसे व्यक्त करके पुनः अपनी मूल बात पर आ जाते हैं।

शुक्लजी के अनुसार निबंध तो उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो अर्थात् किसी भी गद्यांश को पढ़कर हम कह सकते हैं कि यह हजारी प्रसाद द्विवेदी का या रामवृक्ष बेनीपुरी का लेखन है। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की श्रृंखला रखी जाए या जानबूझकर जगह–जगह से तोड़ दी जाए। ''भावों की विचित्रता दिखाने के लिए ऐसी अर्थ योजना की जाए तो उनकी अनुभूति के प्रकृत या लोक सामान्य स्वरूप से संबंध ही न रखे अथवा भाषा से सरकस वालों की–सी कसरत या हठयोगियों जैसे आसन कराये जायें जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ न हो।'' दार्शनिक या शुद्ध वैचारिक लेखक सिर्फ मुख्य विचार तक अपने आपको केन्द्रित रखते हैं, जबकि निबंध लेखक ''अपने मन की प्रकृति के अनुसार स्वच्छंद गति से इधर–उधर फूटी हुई सूत्र शाखाओं पर विचरता चलता है।'' इसी अर्थ में निबंधकार की व्यक्तिगत विशेषता को समझना चाहिए।

विषय की गंभीरता और जटिलता को पठनीय बनाए रखने के लिए शुक्लजी ने हास–परिहास को भी शामिल किया है। जीवन के कुछ चित्र भी वे शामिल कर देते हैं ताकि अपने सामाजिक अनुभव से पाठक तादात्मय की स्थिति में आ सके। इसके बाद वे पुनः अपने मूल विषय पर आ जाते हैं। यह विचलन भी पाठ के अर्थ का विस्तार करता है। उनके इस विवेचन में कहीं भी हल्कापन नहीं आता। प्रत्येक पंक्ति अपने आप में गंभीर है, भले ही वह कोई सूक्ति न हो। पढ़ने के क्रम में शुक्लजी पाठक से भी सजग बने रहने की अपेक्षा रखते हैं। मूल्य व्यवस्था की दृष्टि से भी कहीं फूहड़ता या अश्लीलता नहीं आती। पर्याप्त शालीनता और मर्यादा से शुक्लजी अपनी बात कहते हैं।

शुक्ल जी के अपने समय में भी अन्य द्विवेदी युगीन निबंध लेखकों की उपस्थिति रही है जिनका शुक्ल जी ने अपने ''हिंदी साहित्य का इतिहास'' में उल्लेख किया है। इनमें पं. चंद्रधर शर्मा गुलेरी और सरदार पूर्ण सिंह के निबंधों की बहुत प्रशंसा की है। उनके

अलावा महावीर प्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुंदर दास, पं. माधव प्रसाद मिश्र, बाल मुकुंद गुप्त आदि का भी शुक्लजी ने आलोचनात्मक परिचय प्रस्तुत किया है।

11.6 सारांश

- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जन्म 04 अक्टूबर, 1884 को बस्ती के अगौना नामक गाँव में हुआ।
- उनकी शिक्षा मिर्जापुर में हुई। वे सिर्फ हाई–स्कूल पास थे। अपना ज्ञान उन्होंने स्वध्याय से प्राप्त किया। उन्हें हिंदी, अंग्रेजी, उर्दू और बंगला भाषा का ज्ञान था।
- सन् 1903–08 तक वे 'आनंद कादम्बिनी' पत्रिका के सहायक संपादक थे। उन्होंने नागरी प्रचारिणी पत्रिका का संपादन किया। वे काशी नागरी प्रचारिणी सभा की महत्वाकांक्षी परियोजना 'हिंदी शब्द सागर' के सहायक संपादक थे।
- सन् 1919 में उनकी नियुक्ति काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हुई, जहाँ वे बाद में हिंदी विभाग के अध्यक्ष बने। 2 फरवरी, 1941 को काशी में उनका देहावसान हो गया।
- उन्होंने 'हिंदी साहित्य का इतिहास', 'रस मीमांसा' और 'चिंतामणि' जैसी प्रतिष्ठित पुस्तकें लिखीं। 'चिंतामणि' पुस्तक पर इन्हें मंगला प्रसाद पारितोषिक प्राप्त हुआ।
- 'चिंतामणि' में उन्होंने भाव और मनोविकार संबंधी निबंध लिखे। ये ललित निबंध तो हैं ही, उनके काव्यशास्त्रीय चिंतन के आधार भी हैं।
- उनके निबंधों में उनका गंभीर व्यक्तित्व अभिव्यक्त हुआ है, जिसमें ह्दय और बुद्धि का सामंजस्य है।
- शुक्लजी के अनुसार भाव विकसित होते हैं, परिवर्तित होते हैं और रूपांतरित हो जाते हैं। अर्थात् वे शाश्वत नहीं होते। उनका सामाजिक संदर्भ होता है। शेष सृष्टि के साथ भावों का सामंजस्य होता है।

इस इकाई में आपने विस्तार से आचार्य रामचंद्र शुक्ल के निबंध साहित्य और उनके निबंधों की विशेषताओं का अध्ययन किया है।

11.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. रामचंद्र शुक्ल का जन्म 4 अक्टूबर, 1884 को बस्ती के अगौना नामक ग्राम में हुआ।
2. उत्तर के लिए 11.2 का अध्ययन कीजिए।
3. (क) साहित्य सिद्धांतों (ख) चिंतामणि (ग) जायसी ग्रंथावली (घ) आनंद कादंबिनी।
4. (क) भावुकता (ख) नामवर सिंह (ग) चिंतामणि (घ) अचार, मुरब्बा (ङ) तथ्यों।
5. उत्तर के लिए 11.5 का गहन अध्ययन कीजिए।

इकाई 12 'लोभ और प्रीति' की अंतर्वस्तु और विश्लेषण

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.2 प्रतिपाद्य
    12.2.1 विचार पक्ष
    12.2.2 भाव–पक्ष
12.3 भाषा–शैली
12.4 निबंध में आचार्य शुक्ल का व्यक्तित्व
12.5 संदर्भ सहित व्याख्या
12.6 सारांश
12.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

12.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबंध 'लोभ और प्रीति' का अध्ययन करेंगे। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप :

- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबंध 'लोभ और प्रीति' की अन्तर्वस्तु को जान सकेंगे;
- 'लोभ और प्रीति' की समानता और असमानता के बारे में जान पाएँगे;
- 'लोभ और प्रीति' का अन्य मानवीय भावों से तुलनात्मक अध्ययन कर सकेंगे और
- निबंध में व्याख्यायित देश–प्रेम की भावना का स्वरूप समझ सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आपने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मनोविकार संबंधी ललित निबंधों की विशेषताओं का अध्ययन किया। शुक्ल जी ने अपने इन निबंधों में महत्वपूर्ण मानवीय भावों और मनोविकारों का परिचय प्रस्तुत किया है। उनका तुलनात्मक महत्व स्पष्ट प्रस्तुत किया है। मानव जीवन में भावों और मनोविकारों की क्या भूमिका रही है इसे भी आप स्पष्ट रूप से समझ चुके है। इसके साथ ही शुक्लजी के ये निबंध सिर्फ मनोविकार संबंधी ललित निबंध नहीं है, वरन् उनके काव्यशास्त्रीय चिंतन के आधार भी हैं। अतः इन्हें काव्यशास्त्रीय निबंधों के रूप में भी पढ़ा जाना चाहिए। इस इकाई में आप आचार्य शुकल के एक विशेष निबंध 'लोभ और प्रीति' में आए बिंदुओं का विस्तृत अध्ययन करेंगे।

12.2 प्रतिपाद्य

12.2.1 विचार पक्ष

'लोभ और प्रीति' मुख्यतः विचार प्रधान निबंध है। इसमें शुक्ल जी ने विस्तार से लोभ और प्रीति का स्वरूप स्पष्ट किया है। दोनों का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरांत उन्होंने लोभ और प्रीति की तुलना की है। दोनों की तुलना करते हुए उनके विकास को रेखांकित किया है। इसके साथ ही लोभ और प्रीति के विविध सोपानों को स्पष्ट किया है। अतः इस निबंध का पाठ–विश्लेषण करते हुए हम निबंध में अभिव्यक्त विचारों के अर्थ का अध्ययन करेंगे। यह अर्थ–विश्लेषण निबंध का विचार–पक्ष है जो इसका प्रमुख हिस्सा है। इसके बाद हम निबंध के भाव–पक्ष का भी अध्ययन करेंगे।

लोभ और प्रीति का अर्थ

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने संस्कृत काव्यशास्त्रियों द्वारा निर्धारित स्थायी भावों का विवेचन नहीं किया है, वरन् स्थायी भावों से व्यापक भावों का विवेचन–विश्लेषण किया है। उदाहरण के लिए श्रृंगार रस का स्थायी भाव रति होता है। शुक्लजी ने रति भाव पर निबंध नहीं लिखा, वरन् 'लोभ और प्रीति' विषय पर लिखा। रति भाव इन्हीं मनोभावों के अंतर्गत व्याख्यायित हो सकता है। बहुत दूर तक ये दोनों समानार्थक है, परंतु लोभ और प्रीति रति से व्यापक सामाजिक भाव है।

सामान्य व्यवहार में हम लोभ और प्रीति को परस्पर विपरीत भाव के रूप में देखते हैं, लेकिन शुक्लजी इन दोनों की एकता से अपने निबंध का प्रारंभ करते हैं। फिर इनके परस्पर विरोध की ओर संकेत करते हैं। शुक्लजी के अनुसार लोभ प्रीति में परिणत हो सकता है। लोभ, लोभ के रूप में रह भी सकता है। कई बार यह बदल जाता है। दोनों की सामान्य विशेषता तो यही है कि दोनों मनोविकार 'सुख या आनन्द देने वाली वस्तु के प्रति' होते हैं। जो वस्तु हमें अच्छी न लगे, आनन्द प्रदान करने में सक्षम प्रतीत न हो, सुंदर सुखद न हो, ऐसी वस्तु के प्रति हमारे मन में न लोभ जाग्रत होगा और न प्रेम।

कोई वस्तु या व्यक्ति हमें पसंद आया, अच्छा लगा, उससे हमें सुख या आनन्द का अनुभव हुआ अर्थात वह वस्तु या व्यक्ति आनन्दस्वरूप है। हम उस पर मुग्ध हुए तो यह लोभ या प्रेम नहीं हुआ। अच्छी चीजें सबको अच्छी लगती हैं। लोभ वह तब माना जाएगा, जब हमारे मन में उसे प्राप्त करने की इच्छा जाग्रत होगी। ''जब संवेदनात्मक अव्यव के साथ इच्छात्मक अवयव का संयोग होगा अर्थात् जब उस वस्तु को प्राप्त करने की,दूर न करने की, नष्ट न होने देने की, इच्छा प्रकट होगी, तभी हमारा लोभ लोगों पर खुलेगा।''

किसी वस्तु का अच्छा लगना और उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना यह प्रेम और लोभ दोनों में समान रूप से होता है। दोनों प्रीतिकर वस्तु को पाना चाहते हैं। उसे अपने पास रखना चाहते हैं। दोनों में एक अंतर होता है। 'लोभ' सामान्योन्मुखी होता है और 'प्रेम' विशेषोन्मुखी। कोई भी अच्छी चीज देखी और यदि कोई लेने दौड़ पड़े, तो वह लोभ हुआ। किसी ने कोई खास वस्तु या व्यक्ति को देखा और उसे प्राप्त करने का प्रयास किया। बाद में उससे भी अच्छी कोई वस्तु या व्यक्ति देखा तो भी उसकी तरफ आकृष्ट नहीं हुआ तो वह प्रेमी हुआ। यही प्रेम का लक्षण है। इसके लिए शुक्ल जी ने वशिष्ठ मुनि की गाय का उदाहरण दिया। विश्वामित्र को वशिष्ठ की गाय

पसन्द आई। वे उसे लेना चाहते थे, लेकिन वशिष्ठ उसे देना नहीं चाहते थे। इस गाय के बदले में विश्मामित्र अनेक गायें देना चाहते थे, लेकिन वशिष्ठ ने उनका कोई प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। इस क्रम में न तो वशिष्ठ लोभी प्रमाणित हुए न विश्वामित्र क्योंकि दोनों उसी गाय को प्यार करते हैं।

लोभ के विविध रूप

शुक्लजी ने लोभ की इच्छा में दो बातें बताई हैं–

1. प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा
2. दूर न करने या नष्ट न होने देने की इच्छा।

आगे उन्होंने प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा के भी दो रूप बताए हैं–

1. इतने संपर्क की इच्छा जितनी और किसी की न हो और
2. इतने संपर्क की इच्छा जितना सब कोई या बहुत से लोग एक साथ रख सकते हैं।

सबके साथ यदि आप भी किसी का सान्निध्य प्राप्त कर रहे हों, तब तक किसी को कोई कष्ट नहीं होता या सबकी अभिरुचि भिन्न–भिन्न हो, कोई किसी को चाहता है, दूसरा किसी और को चाहता है, तब किसी को कोई परेशानी नहीं होती। लोभ सामाजिक विरोध उत्पन्न करने वाला भाव होता है। सब यदि उसी वस्तु को चाहते हों तो सब आपस में प्रतिद्वंद्विता की स्थिति में आ जाएँगे। तब कहा जाएगा कि 'अमुक व्यक्ति बहुत लोभी है, जो माँगने पर भी देता नहीं।' उसी बात को दूसरा व्यक्ति कहेगा कि 'अमुक व्यक्ति बहुत लोभी है जो हमेशा माँगता ही रहता है।' शुक्ल जी के अनुसार ये दोनों व्यक्ति लोभी कहे जाएँगे।

कई बार मनुष्य के लोभ पर दूसरे मनोविकारों का प्रभाव पड़ जाता है। दो लोभी व्यक्तियों के झगड़े में यदि किसी एक व्यक्ति को क्रोध आ गया तो और इस क्रोध के वशीभूत होकर उसने उस वस्तु को तोड़ दिया तो वह पक्का लोभी नहीं माना जाएगा। उसके लोभ पर क्रोध हावी हो गया है। पक्का लोभी कभी प्रिय वस्तु को नष्ट नहीं करता। वह धुन का पक्का होता है। वह इस मानसिकता में नहीं आता कि यदि मुझे नहीं मिला तो वह किसी और को भी न मिले। लेकिन लोभी व्यक्ति में ऐसी हिंसक मनोवृत्ति को भी देखा जा सकता है।

शुक्लजी मानते हैं कि लोभ के दो विषय होते हैं– सामान्य और विशेष। ''अच्छा खाना, अच्छा कपड़ा, अच्छा घर तथा धन, जिससे वे सब वस्तुएँ सुलभ होती हों सबको भाता है। सब उसकी प्राप्ति की आकांक्षा करते हैं।'' ये सब लोभ के सामान्य विषय के अंतर्गत आते हैं। इसे सहज वृत्ति मान कर समाज स्वीकार कर लेता है। ऐसे लोभी की निंदा नहीं होती। कभी–कभी व्यक्ति किसी खास चीज को चाहता है और तब समस्या आती है। फिर मनुष्य ने सामान्य लोभ की वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए मुद्रा का आविष्कार कर लिया। इस मुद्रा से, धन से उसे सब कुछ मिल सकता है। इसके परिणामस्वरूप ''जो बातें पारस्परिक प्रेम की दृष्टि से, धर्म की दृष्टि से, की जाती थीं वे भी रूपये–पैसे की दृष्टि से होने लगीं।'' नए व्यापारिक युग के आगमन के प्रभाव की अभिव्यक्ति करते हुए शुक्लजी लिखते हैं कि 'पैसे से राज सम्मान की प्राप्ति, विद्या की प्राप्ति और न्याय की प्राप्ति होती है। जिनके पास कुछ रूपया है, बड़े–बड़े विद्यालयों में अपने लड़कों को भेज सकते हैं, न्यायालयों में फीस देकर अपने

मुकदमें दाखिल कर सकते हैं और महँगे वकील–बैरिस्टर करके बढ़िया–खासा निर्णय करा सकते हैं, अत्यंत भीरु और कायर होकर बहादुर कहला सकते हैं। राजधर्म, आचार्य–धर्म वीरधर्म सब पर सोने का पानी फिर गया, सब टका धर्म हो गए।' लोभ के इन सामाजिक उदाहरणों के द्वारा वे इस मनोभाव की व्याप्ति को रेखांकित करना चाहते हैं। यहाँ तक कि पैसे का प्रभुत्व अंतर्राष्ट्रीय स्तर भी देखा जा सकता है। इसी लोभ का संबंध साम्राज्यवाद का विस्तार और विश्वयुद्ध के रूप में समाज ने देखा है। इसी लोभ का विरोध करने के लिए देश प्रेम की भावना जाग्रत हुई। इसका विवेचन हम देश–प्रेम के प्रकरण में करेंगे।

शुक्लजी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ''लोभ' शब्द कहने में आजकल प्रायः धन की भावना होती है''। इसका कारण यह है कि धन से अनेक सांसारिक कष्ट दूर हो सकते हैं, और सांसारिक सुख के साधन उपलब्ध हो सकते हैं। यहाँ तक कि ''धन के बिना संसार में रहना संभव नहीं।'' संसार में लोग धन संग्रह क्यों करते हैं इसका श्रेणी विभाजन किया जाए तो (1) कुछ लोग घोर कष्ट निवारण के लिए (2) कुछ और भी अधिक सुख प्राप्त करने करने के लिए (3) कुछ लोग भविष्य में सुख के अभाव की आशंका दूर करने के लिए और (4) कुछ लोग बिना किसी उद्‌देश्य–भावना के धन संग्रह करते हैं। इनमें से प्रथम श्रेणी के लोगों को धन का लोभी नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे अपने कष्टों को दूर करने के लिए धन की कामना करते हैं। दूसरी श्रेणी के लोगों पर लोभ का आरोप लग सकता है। यह आरोप हर अगली श्रेणी के लोगों पर बढ़ता चलता है। प्रारंभिक तीन तरह के लोग फिर भी क्षम्य हैं। कष्ट निवारण, की इच्छा, अधिक सुख प्राप्ति की इच्छा, सुख के अभाव की कल्पना समाज की दृष्टि में फिर भी क्षम्य है।

अब यह अलग प्रश्न है कि कितना धन होने पर आपका वर्तमान और भविष्य का कष्ट निवारण हो सकेगा! इसका निर्णय करना अभी भी सरल नहीं है। यह समय, परिस्थिति और समाज पर निर्भर करता है। तब भी कोई सीमा तो अवश्य हो सकती है। शुक्ल जी ने निबंध में इसका कोई तथ्यात्मक प्रत्युत्तर तो नहीं दिया, हाँ, इतना अवश्य कहा है कि किसी मनोविकार की उचित सीमा का अतिक्रमण प्रायः वहाँ समझा जाता है, जहाँ और मनोवृत्तियाँ दब जाती हैं या उनके लिए बहुत कम स्थान रह जाता है'। शुक्लजी मानते हैं और अपने विवेचन में कहते हैं कि मनुष्य को अपने जीवन में सभी मनोविकारों का उचित सामंजस्य बनाए रखना चाहिए। जहाँ किसी एक मनोविकार का आधिक्य हो जाता है, वहाँ अन्य मनोभाव शांत हो जाते हैं। यह मनुष्य की सजीवता के लक्षण नहीं है। जहाँ उसे क्रोध आना चाहिए, वहाँ उसे क्रोध की अनुभूति होनी चाहिए। जहाँ घृणा प्रकट करने की अनिवार्यता होनी चाहिए, वहाँ मनुष्य को उसे व्यक्त करना चाहिए। तभी मनुष्य सजीव माना जाएगा। अन्यथा उसके मस्तिष्क का वह भाग मृत–प्राय समझा जाएगा।

अन्य मनोविकारों की तुलना में लोभ अधिक स्थायी रहता है। वह अन्य मनोविकारों को दबाने में अधिक सक्षम होता है। यहाँ शुक्लजी ने क्रोध का उदाहरण दिया है तथा क्रोध से लोभ की तुलना की है। उदाहरण के लिए क्रोधी स्वभाव के व्यक्ति ऐसी बातों से भी चिढ़ जाता है, जिनसे सामान्य लोग नहीं चिढ़ते। जब ऐसी बातें उसके सामने आती हैं, तब उसे क्रोध आता है। यदि ऐसी बातें सामने न आए तो वह ऐसी बातों को खोजता नहीं, अपितु शांत रहता है। इसी तरह क्रोध से 'आग बबूला' व्यक्ति करुणा से विगलित हो जाता है या जब उसे एहसास होता है कि उसने गलत क्रोध किया है तो उसे लज्जा भी आने लगती है। क्रोध के कारण जो अन्य मनोवृत्तियाँ बाधित होती हैं,

वह प्रायः क्षणिक होती हैं। क्रोध के आवेग के चरम क्षण के बाद वह शांत हो जाता है। लेकिन लोभ का प्रथम अवमन हैं– सुख की आकांक्षा। यह कभी समाप्त नहीं होती। लोभ बराबर बना रहता है। धन का लोभी धन पाकर संतुष्ट नहीं होता, उसका लोभ बढ़ता चला जाता है। और वह अपने धन की रक्षा के लिए उचित–अनुचित के विवेक का परित्याग कर देता है। शुक्ल जी ने अत्यधिक लोभ के दो लक्षण बताए हैं–

1. असंतोष
2. अन्य वृत्तियों का दमन।

शुक्लजी का कहना है कि अधिक लोभी व्यक्ति कभी संतुष्ट नहीं हो पाता। धन मिल गया तो भी कोई संतोष नहीं होता। उसे और भी धन चाहिए होता है। इस लालसा के कारण उसे कभी सुख की अनुभूति नहीं होती। जिस सुख के लिए उसने धन का संचय किया और करता ही जा रहा है, उस धन के अभाव का असंतोष ही उसके हृदय में रहता है। यह ''असंतोष अभाव–कल्पना से उत्पन्न दुःख'' है और इस दुःख का कोई उपचार नहीं है। उसके लिए अभाव ही सत्य है। जो है उसका उसके लिए कोई मूल्य नहीं है। जो है उसका वह कभी भोग ही नहीं कर पाता। ऐसा व्यक्ति ''न किसी को देखकर वह प्रसन्न होता है और न उसे देखकर कोई प्रसन्न होता है'। इसी कारण हमारे प्राचीन संतों ने संतोष को सात्विक जीवन का अंग बताया है। हालाँकि असंतोष से मनुष्य की कर्मठता बढ़ती है। कई बार ''असंतोष का अभाव आलस्य सूचक'' भी होता है।

इस तरह शुक्लजी के अनुसार धन का यह लोभ 'मानसिक व्याधि' बन जाता है। इस व्याधि के कारण मनुष्य के अंतःकरण की शेष वृत्तियाँ ''अनायास से कुण्ठित'' हो जाती है। ''जो लोभ और मान–अपमान के भाव को, करुणा और दया के भाव को, न्याय–अन्याय के भाव को, यहाँ तक कि अपने कष्ट–निवारण या सुख भोग की इच्छा तक को दबा दे, वह मनुष्यता कहाँ तक रहने देगा।'' इसके बाद शुक्लजी ने इसके सामाजिक प्रभाव के कुछ उदाहरण दिए हैं। ऐसा लोभी कहाँ तक जा सकता है ? वह किसी अनाथ–विधवा का सर्वस्व हरण करने के लिए कुर्क–अमीन लेकर चढ़ाई कर सकता है, जो अभिमानी धनिकों की दुत्कार सुनकर भी क्रोध प्रकट नहीं करता। ऐसे लोग तो वे होते हैं ''जो मिट्टी में रूपया गाड़कर न आप खाते हैं और न दूसरों को खाने देते हैं। ऐसे लोग अपने परिजनों का कष्ट–क्रन्दन भी नहीं सुनते। वे अधमरे होकर जीते हैं। उनका आधा अंतःकरण मारा गया समझिए। जो किसी के लिए नहीं जीते, उनका जीना न जीना बराबर है।''

इस तरह ऐसे लोभी अपने ही मन का दमन करते हैं। शुक्लजी उनके दमन को योगियों के दमन के बराबर समझते हैं। ''लोभ के बल से काम और क्रोध को जीतते हैं, सुख की वासना का त्याग करते हैं, मान–अपमान में समान भाव रखते हैं।'' सामान्य रूप में ये अच्छी बाते हैं, लेकिन लोभियों के प्रसंग में ये निंदनीय ही मानी जाएँगी। ऐसे लोभियों को न ''मक्खी चूसने में घृणा होती है और न रक्त चूसने में दया। सुंदर से सुंदर रूप देखकर वे अपनी एक कौड़ी भी नहीं भूलते। करुण से करुण स्वर सुनकर वे अपना एक पैसा भी किसी के यहाँ नहीं छोड़ते। तुच्छ से तुच्छ व्यक्ति के सामने हाथ पैर फैलाने में वे लज्जित नहीं होते।''

इस प्रकार शुक्लजी भाव को एक स्थिति में नहीं देखते। वे भाव को विकासमान रूप में देखते हैं। लोभ मात्रा के अनुसार घटने–बढ़ने वाला भाव है। इन भावों की मूल्य–मीमांसा भी शुक्लजी करते हैं और सामाजिक रूप से निंदनीय व्यक्ति की वे

निंदा करते हैं। लोभियों को संबोधित करते हुए इस प्रकरण के अंत में वे लिखते हैं, 'लोभियो! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रिय–निग्रह, तुम्हारी मानापमान–समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है, तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्ल्लजता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो! तुम्हें धिक्कार है!' इसी में शुक्ल जी पक्के लोभी और कच्चे लोभी में भेद करते हैं। पक्के लोभी लक्ष्य भ्रष्ट नहीं होते, कच्चे हो जाते हैं। पक्का लोभी अपने लोभ पर ध्यान केन्द्रित रखता है और विचलित नहीं होता।

प्रीति के विविध रूप

हालाँकि लोभ और प्रीति में कई बातें समान होती हैं, फिर भी वस्तु का लोभ लोभ ही रहता है, व्यक्ति के लिए लोभ प्रीति में बदल सकता है। इसका कारण यह है कि जिस तरह प्रेम करने वाले व्यक्ति में चेतना होती है, उसी तरह प्रिय पात्र में भी चेतना होती है, जिसे शुक्लजी 'मनस्तत्व' कहते हैं। बेजान वस्तु में चेतना नहीं होती। किसी व्यक्ति को चाहने वाले उसके बाह्य कारण से ही संतुष्ट नहीं होता, उसकी अंतर्वृति को भी प्रभावित करना चाहता है। उसके मन में अपने लिए जगह भी बनाना चाहता है। 'प्रभाव डालने की यह वासना प्रेम उत्पन्न होने के साथ ही जगती और बढ़ी चली जाती है।' इसलिए शुक्लजी कहते हैं कि मानवीय संबंध बहुत जटिल होता है।

लोभ में आलंबन अप्रभावित रहता है। ''प्रेम में आलंबन और आश्रय न केवल चेतना–संपन्न होते हैं, वरन् एक दूसरे के रूप में बदल भी जाते हैं।'' आश्रय आलंबन बन जाता है और आलंबन आश्रय। इसलिए जब भी किसी व्यक्ति को कोई व्यक्ति पसन्द आता है तो वह सबसे पहले उसे यह सूचित करने लग जाता है कि वह उसको पसन्द करता है। उसे प्रेम करता है। ऐसा वह इसलिए करता है ताकि प्रिय का सान्निध्य या संपर्क उसे मिलता रहे, ताकि प्रेमी को सुख की अनुभूति होती रहे। फिर ''प्रेम का पूर्ण विकास तभी होता है जब दो हृदय एक दूसरे की ओर क्रमशः खिंचते हुए मिल जाते हैं। इस अंतर्योग के बिना प्रेम की सफलता नहीं मानी जा सकती।'' प्रेम की सूचना एक तरह का निमंत्रण है, जो प्रेमी अपने प्रिय को देता है। जब उसके पास सूचना पहुँच जाती है और प्रेमी आश्वस्त हो जाता है तब वह अपनी 'अच्छी छवि' प्रिय के मन में बिठाता है। प्रेम का तो पहला तत्व ही है 'अच्छा लगना'। 'अच्छी छवि' के लिए प्रेमी सोचता है कि अब मुझे तो प्रिय अच्छा लगा, अब मैं भी प्रिय को अच्छा लगूँ। अब वह अपनी छवि प्रस्तुत करता है। अच्छे कपड़े पहनकर रहता है। साफ–सुथरा दिखता है। शुक्लजी ने इस मनोवृत्ति का पूरा विवरण दिया है। ''जब कभी किसी नवयुवक का चित्र किसी युवती की ओर आकर्षित होता है, तब ऐसे स्थानों पर जाते समय जहाँ उसके दिखाई पड़ने की संभावना होती है, उसका ध्यान कपड़े–लत्ते की सफाई और सजावट की ओर कुछ अधिक हो जाता है। सामने होने पर बातचीत और चेष्टा में भी एक खास ढब देखा जाता है। अवसर पड़ने पर चित्त की कोमलता, सुशीलता, वीरता, निपुणता इत्यादि का भी प्रदर्शन होता है।''

इस तरह आचार्य शुक्ल के अनुसार जब दो हृदयों का मिलन होता है, दोनों एक दूसरे को पसंद करने लगते हैं, अधिक से अधिक समय तक साथ रहने का प्रयास करने लगते हैं, तब उनके जीवन में विशेष आनंद उत्पन्न हो जाता है। प्रिय का आनन्द अपना आनन्द लगने लगता है। यहाँ तक होता है कि प्रेम के इस आनन्द के कारण संसार की अन्य चीजों में भी उन्हें आनन्द की अनुभूति होने लगती है। ऐसे में यदि कभी वियोग की स्थिति आती है, तब उनमें दुःख की मात्रा भी उतनी ही बढ़ती जाती है।

यहाँ पुनः शुक्ल जी प्रेम के दो क्षेत्रों की ओर इशारा करते हैं। प्रेम एकांत भाव में भी होता है और लोकजीवन के अन्य क्षेत्रों में भी होता है। कई बार प्रेमी चाहता है कि वह अपने प्रेम को संसार से छिपाकर सिर्फ अपने पास रखे। वे दो लोग रहें तथा और कोई न हो। शुक्ल जी इस एकांत प्रेम की प्रशंसा नहीं करते। शुक्लजी के अनुसार फारसी साहित्य में ऐसे ''एकांतिक और लोक–बाह्य प्रेम की अधिकता'' दिखाई पड़ती है। भक्ति साहित्य में भी ऐसा एकांतिक प्रेम मिलता है।

दूसरा प्रेम लोकजीवन के बीच घटित होता है। शुक्ल जी इस प्रेम को व्यापक एवं काम्य मानते हैं। ''प्रेम के दिव्य प्रभाव से उसे अपने आसपास चारों ओर सौन्दर्य की आभा फैली दिखाई पड़ती है, जिसके बीच वह बड़े उत्साह और प्रफुल्लता के साथ अपना कर्म सौन्दर्य प्रस्तुत करता है। वह अपने प्रिय को समग्र जीवन का सौन्दर्य जगत के बीच दिखाना चाहता है''। शुक्लजी को राम के जीवन में ऐसा सौन्दर्य और प्रेम दिखाई देता है। घर–परिवार, माता–पिता से प्रेम करते हुए नायक जब चलता है, तब ''रास्ते में चींटियों को बचाता चलता है। किसी प्राणी का दुःख देख आँसू बहाता हुए रुक जाता है, किसी दीन पर निष्ठुर अत्याचार होते देख क्रोध से तिलमिलाता हुआ अत्याचारी का हाथ थामने के लिए कूद पड़ता है, बालकों की क्रीड़ा देख विनोद से पूर्ण हो जाता है, लहलहाती हुई हरियाली देख लहलहा उठता है और खिले हुए फूलों को देख खिल जाता है।'' यह आचार्य शुक्ल के आदर्श प्रेम की परिकल्पना है, जिसमें सारे मानवीय भाव, मानवीय रूप में उपस्थित हो जाते हैं।

शुक्लजी प्रेम की एक ही स्थिति का चित्रण नहीं करते, वरन् अनेक स्थितियों का विवेचन करते हैं। राम ने सीता से प्रेम किया, सीता ने राम से प्रेम किया। यह दोनों का संपूर्ण प्रेम हुआ। कई बार ऐसी स्थितियाँ भी आती हैं, जहाँ एक पात्र तो प्रेम करता है, दूसरा उसके प्रेम को स्वीकार नहीं करता। वह किसी अन्य से प्रेम करने लग जाता है। उदाहरण के लिए गोपियाँ कृष्ण से प्रेम करती हैं, परंतु कृष्ण अन्यत्र व्यस्त हो गए हैं, तब भी गोपियों का प्रेम तो प्रेम ही माना जाएगा। हालाँकि इसमें सान्निध्य लाभ नहीं मिला। ऐसी स्थिति में गोपियाँ यही कामना करती हैं कि हमारे प्रिय जहाँ भी रहे खुश रहें। इसका एक और उदाहरण आचार्य रामचंद्र शुक्ल देते हैं। वे बंकिमचंद्र चटर्जी के उपन्यास 'दुर्गेशनन्दिनी' की आयशा का जिक्र करते हैं– ''जिस दिन से उसे जगत सिंह और तिलोत्तमा के प्रेम का पता चलता है, उसी दिन से वह अपने प्रेम को भौतिक कामनाओं से मुक्त करने लगती है और अंत में तिलोत्तमा के साथ जगत सिंह का विवाह कराकर पूर्ण शांति के साथ प्रेम के विशुद्ध मानस लोक में प्रवेश करती है।'' हालाँकि इस तरह का प्रेम, लोक में कम पाया जाता है।

प्रिय को प्राप्त करने के लिए प्रेमी बहुत जतन करते हैं। शुक्लजी का मत है कि हृदय की दो कोमल वृत्तियाँ होती हैं–करुणा और प्रेम। अपने प्रेम के द्वारा वह प्रिय को मनाने की कोशिश तो करता ही है और यदि कोशिश करते–करते वह थक जाता है तो करुणा का सहारा लेता है। वह अपने प्रिय के मन में दया का संचार करना चाहता है। दया यदि उत्पन्न हो गई तो धीरे–धीरे प्रेम भी जाग्रत हो जाएगा। इस विश्वास से वह अपने विरह का वर्णन करके प्रिय तक पहुँचाता रहता है। सब मानते हैं और जानते हैं कि ''दया मनुष्य मात्र का धर्म है और प्राणि मात्र उसके अधिकारी हैं।'' यह दया प्रेम की बराबर सहायता करती है। शुक्ल जी ने इस मनोभूमि का विवेचन करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार दूसरे के हृदय में प्रेम उत्पन्न करने की जरूरत होती है, उसी प्रकार बराबर बनाए रखने की भी। प्रेम की रखवाली करने के लिए प्रेमी प्रिय के हृदय में दया को बराबर जगाता रहता है। फारसी और उर्दू शायरी में तो इसकी

भरमार है ही, हिंदी में भी 'पद्मावत' में नागमती इसी कारुणिक विरह का वर्णन करके रतनसेन के मन में सोए हुए–प्रेम को जगाने में सफल होती है। फारसी कविता में ''प्रेमी जीते जी यार के कूचे में अपनी कब्र बनवाते हैं। उस कूचे के कुत्तों के नाम अपनी हड्डियाँ वक्फ करते हैं और बार–बार मरकर अपना हाल सुनाया करते हैं।'' इसके बाद भी यदि प्रिय ध्यान न दे तो कई बार वे प्रिय की खुशी में ही अपनी खुशी मानकर संतोष कर लेते हैं। यदि इस भूमि पर प्रेमी नहीं पहुँच पाता तो उसे अनेक मानसिक कष्टों को झेलना पड़ता है। वह बदला लेने पर उतारू हो सकता है। इससे ईर्ष्या, क्रोध आदि बुरे भावों का संचार होने की संभावना बढ़ जाती है।

हालाँकि साहित्य में रूप–लोभ को ही प्रेम का प्रवर्तक बताया गया है, परंतु शुक्लजी एक दूसरे प्रकार के प्रेम का भी उल्लेख करते हैं। इसमें न तो रूप का वर्णन होता है और न प्रिय मुग्ध होता है। फिर भी उनमें प्रेम भाव पनप जाता है। ऐसा भाव धीरे–धीरे स्वतः पनपता है और स्थायी रूप से बना रहता है। इसे शुक्लजी ने साहचर्यजन्य प्रेम की संज्ञा दी है। साथ रहते–रहते जो प्रेम जाग्रत होता है वह गार्हस्थिक प्रेम होता है। 'गोदान' में होरी और धनिया का का प्रेम इसी तरह का साहचर्यजन्य प्रेम है। कवियों की दृष्टि इस प्रेम की तरफ कम गई है। ''भाई–बहिन, पिता–पुत्र, इष्ट मित्र से लेकर चिर–परिचित, पशु–पक्षी और वृक्ष तक का प्रेम इसी तरह का होता है। रूप, गुण की भावना से उत्पन्न प्रेम भी आगे चलकर कुछ दिनों में यह साहचर्य–जन्य स्वरूप प्राप्त करता है।' इसी के अंतर्गत शुक्लजी ने देश प्रेम को भी गिना है।

देश प्रेम का स्वरूप

शुक्लजी जिस समय साहित्य–सर्जन कर रहे थे, वह समय राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन का समय था। उस दौर में देश प्रेम की भावना की अभिव्यक्ति बहुत स्वाभाविक थी। हिंदी के लगभग सभी बड़े रचनाकारों ने देश प्रेम की भावनाओं से ओत प्रोत रचनाएँ की थी। इस कारण शुक्लजी ने प्रेम को परिभाषित करते हुए उसमें देश प्रेम को भी स्थान दिया। उन्होंने धनी राष्ट्रों के देश प्रेम को साम्राज्यवादी लिप्सा से जोड़ा तथा भारत के लिए इसे देश की प्रतिष्ठा से जोड़ा।

लोभ और प्रेम के अंतर को रेखांकित करते हुए उन्होंने कहा कि आज के युग में सब बातें रूपये–पैसे की दृष्टि से होने लगी हैं। पहले जो बातें ''परस्पर प्रेम की दृष्टि से की जाती थीं, धर्म की दृष्टि से की जाती थीं, अब इस दृष्टि से नहीं की जाती।'' अब जबकि सबकी ''टकटकी टके पर'' लग गई तो राष्ट्रों की राजनीतिक दृष्टि में भी परिवर्तन होने लगा। अब ''व्यापार नीति राजनीति का प्रधान अंग'' हो गई। इस प्रकरण को आगे बढ़ाते हुए शुक्लजी साम्राज्यवादी देशों की आर्थिक नीतियों की आलोचना करते हैं। उन्होंने कहीं इंग्लैंड का जिक्र नहीं किया, लेकिन इन सब बातों का निहितार्थ इंग्लैंड सहित यूरोपीय देशों की आर्थिक नीति ही था। उन्होंने लिखा, ''बड़े–बड़े राज्य माल की बिक्री के लिए लड़ने वाले सौदागर हो गए। जिस समय धर्म की प्रतिष्ठा थी, एक राज्य दूसरे राज्य पर कभी–कभी विजय कीर्ति की कामना से डंके की चोट पर चढ़ाई करता था। अब सदा एक देश दूसरे देशों का चुपचाप दबे पाँव धन हरण करने की ताक में लगा रहता है। इसी से भिन्न–भिन्न राज्यों की परस्पर संबंध समस्या इतनी जटिल हो गई है। कोई–कोई लोभवश इतना अधिक माल तैयार करते हैं कि उसे किसी देश के गले मढ़ने की फिक्र में दिन–रात मरते रहते हैं। जब तक यह व्यापारोन्माद दूर न होगा, तब इस पृथ्वी पर सुख–शांति न होगी।''

शुक्लजी मानते हैं कि यह होगा अवश्य और पुनः क्षात्र धर्म की प्रतिष्ठा होगी। हालाँकि ऐसा नहीं हुआ और आगे चलकर विश्वयुद्ध हुए। यद्यपि इस प्रक्रिया में शुक्लजी ने साम्राज्यवादियों के लोभ का यथार्थपरक विश्लेषण कर दिया, उन्होंने लोभ तक ही अपने आपको सीमित रखा। आगे उन्होंने देश–प्रेम की चर्चा की। उनका मत है कि ''जन्मभूमि का प्रेम, स्वदेश–प्रेम यदि वास्तव में अंतःकरण का कोई भाव है तो स्थान के लोभ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।'' इस लोभ के लक्षणों से शून्य देश–प्रेम कोरी बकवाद या फैशन के लिए गढ़ा हुआ शब्द है। इसके बाद देश–प्रेम को परिभाषित करते हुए वे लिखते हैं– ''यदि किसी को अपने देश से प्रेम है तो अपने देश के मनुष्य, पशु–पक्षी, लता, गुल्म, पेड़, पत्ते, वन, पर्वत, नदी, निर्झर सबसे प्रेम होगा; सबको वह वाह भरी दृष्टि से देखेगा, सबको सुध करके वह विदेश में आँसू बहाएगा। जो यह भी नहीं सुनते कि चातक कहाँ चिल्लाता है, जो आँख भर यह भी नहीं देखते आम प्रणय सौरभ–पूर्ण मंजरियों से कैसे लदे हुए हैं, जो यह भी नहीं झांकते कि किसानों के झोंपड़ों के भीतर क्या हो रहा है, वे यदि दस बने–ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बताकर देश–प्रेम का दावा करें, तो उनसे पूछना चाहिए कि भाइयो! बिना परिचय के यह प्रेम कैसा ? जिनके सुख–दुख के तुम कभी साथी न हुए उन्हें तुम सुखी देखना चाहते हो, यह समझते नहीं बनता। उनसे कोसों दूर बैठे–बैठे, पड़े–पड़े या खड़े–खड़े, तुम विलायती बोली में अर्थशास्त्र की दुहाई दिया करो, पर प्रेम का नाम उसके साथ न घसीटो। प्रेम हिसाब–किताब की बात नहीं है। हिसाब–किताब करने वाले भाड़े पर भी मिल सकते हैं, पर प्रेम करने वाले नहीं।''

यहाँ फिर शुक्लजी प्रेम की परिभाषा को देश–प्रेम से जोड़ते हैं और यह कि प्रेम की पहली सीढ़ी 'परिचय' है। यदि देश से प्रेम करना चाहते हैं तो देश से परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। इस तरह देश जब हमारी आँखों में बस जाएगा, तब हमारे मन में इच्छा जागेगी कि यह हमसे कभी न छूटे। वह सदा खुशहाल रहे। यहाँ दुःख–दारिद्र्य न हो। यह प्रेम का सूत्र है। आगे वे कहते हैं कि देश के अतीत का स्मरण करो। राम, कृष्ण, भीम, अर्जुन, विक्रम, कालिदास, भवभूति का स्मरण करो। इस तरह से देश से परिचय होगा और फिर प्रेम। शुक्लजी के अनुसार यही देश प्रेम का रास्ता है। अर्थात् देश–प्रेम का अर्थ हुआ देश के भूगोल, अतीत और इतिहास के माध्यम से देश के निवासियों से प्रेम।

जब परिचय से प्रेम का इतना गहरा संबंध है तो व्यक्ति अपने घर, नगर, राज्य या देश से प्रेम करते समय घर को प्राथमिकता देगा ही और देता भी है। हालाँकि शुक्लजी मानते हैं कि कई बार इसका उल्टा भी होता है। संकट के समय में होना भी चाहिए। संकट के समय में लोग अपने देश के लिए अपने घर का परित्याग कर देते हैं। आम तौर से लोग अपने घर की रक्षा के लिए दूसरे घर से लड़ पड़ते हैं। पुर की रक्षा के लिए दूसरे पुर से या राज्य की रक्षा के लिए दूसरे राज्य से लड़ पड़ते हैं। यह संकुचित हृदय के संकुचित प्रेम की निशानी है। शुक्लजी इसको ठीक नहीं समझते।

शुक्लजी के अनुसार प्रेम का अंतिम लक्ष्य मानव मात्र से प्रेम होना चाहिए। ''जिनकी आत्मा समस्त भेदभाव भेदकर अत्यंत उत्कर्ष पर पहुँची हुई होती है, वे सारे संसार की रक्षा चाहते हैं–जिस स्थिति में भूमण्डल के समस्त प्राणी, कीट–पतंग से लेकर मनुष्य तक सुखपूर्वक रह सकते हैं, उसके अभिलाषी होते हैं। ऐसे लोग विरोध से परे हैं। उनसे जो विरोध रखें, वे सारे संसार के विरोधी हैं, वे लोक के कंटक हैं।'' लोभ से

विश्व मानवता के प्रेम की ये सब सीढ़ियाँ हैं। शुक्लजी ने इन सबका विस्तार से विवेचन इस निबंध में किया है।

निबंध के अंत में लोभ या प्रेम की विलक्षणता की चर्चा करते हुए शुक्लजी कहते हैं कि यह ऐसा भाव है 'जिनकी व्यंजना हँसकर भी की जाती है और रोकर भी।' अर्थात् यह सुखात्मक भी होता है और दुखात्मक भी। इसीलिए संस्कृत आचार्यों ने शृंगार रस के भी दो भेद किए हैं–संयोग शृंगार और वियोग शृंगार। उनके अनुसार यह सब आलंबन की उपस्थिति पर निर्भर करता है। आलम्बन के उपस्थित रहने पर आनंद और उसके न रहने पर दुःख उत्पन्न होता है। इसी तरह यह भाव अन्य भावों की तुलना में स्थायी रहता है। इसी कारण शृंगार को विद्वान लोग 'रस राज' शब्द से पुकारते हैं।

बोध प्रश्न

1. निबंध में प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा के कौन से दो रूप बताए गए हैं?

   ....

   ....

   ....

   ....

   ....

2. शुक्लजी ने अत्यधिक लोभ के कौन से लक्षण बताए हैं?

   ....

   ....

   ....

   ....

   ....

3. उचित शब्दों द्वारा रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

   क) लोभ .... उत्पन्न करने वाला भाव होता है।

   ख) अन्य मनोविकारों की तुलना में लोभ अधिक .... रहता है।

   ग) हृदय की दो कोमल दृष्टियाँ ....और .... होती हैं।

   घ) शुक्ल जी के प्रेम को परिभाषित करते हुए उसमें .... को भी स्थान दिया।

   ङ) साहित्य में .... को ही प्रेम का प्रवर्तक दिखाया गया है।

   च) देश प्रेम का अर्थ देश के भूगोल और इतिहास के माध्यम से देश के .... से प्रेम करना होता है।

12.2.2 भाव–पक्ष

विचार–पक्ष का विस्तृत अध्ययन करने के उपरांत हम इस निबंध के भाव पक्ष का विवेचन करेंगे। शुक्लजी अपनी भावनाओं और मंतव्यों की अभिव्यक्ति करते हैं। आचार्य शुक्ल के निबंध भाव–प्रधान नहीं है। वे सिर्फ अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए निबंध नहीं लिखते। वे विषय को स्पष्ट करने के लिए निबंध लिखते हैं। हालाँकि विषय का बौद्धिक विवेचन करते हुए कई बार वे भाव–विह्वल भी हो जाते हैं। अपनी भावनाओं को भी अभिव्यक्त करने लग जाते हैं। इस क्रम में प्रेम, सहानुभूति सात्विक क्रोध, घृणा आदि भावों को भी अभिव्यक्त करने लग जाते हैं। हालाँकि उनके निबंधों में ऐसे अवसर बहुत कम आते हैं। जब भी ऐसे अवसर आते हैं, शुक्लजी खुलकर अपने हृदयगत भावों को अभिव्यक्त करते हैं। यह अवश्य है कि वे इस अभिव्यक्ति के तुरंत बाद अपने मूल विषय पर आ जाते हैं और मूल विषय का वैचारिक विवेचन करने में रम जाते हैं। 'लोभ और प्रीति' निबंध को इस दृष्टि से भी पढ़ा जा सकता है।

जब तक शुक्लजी अपने विषय को स्पष्ट करते हैं, तब तक वे कोई भावनात्मक प्रतिक्रिया नहीं देते। ज्यों ही वे किसी स्थिति से असहमत होते हैं तब तुरंत भावनात्मक प्रतिक्रिया दे देते हैं। ऐसे में उनका भावनात्मक आवेग उदाहरणों में सबसे अधिक प्रकट होता है। 'लोभ और प्रीति' में शुक्लजी लोभी व्यक्ति को पसंद नहीं करते। इसलिए मिठाई के लोभी व्यक्ति पर टिप्पणी करते हुए वे लिख जाते हैं ''चौबेजी पेट भर भोजन के ऊपर भी पेड़े पर हाथ फेरते हैं।'' अत्यधिक क्रोध की स्थिति में वे व्यंग्य करते हैं। ''लक्ष्मी की मूर्ति धातुमयी हो गई, उपासक सब पत्थर के हो गए।'' हल्का–सा क्रोध व्यक्त करते हुए वे कहते हैं, ''मोटे आदमियो! तुम जरा–से दुबले हो जाते–अपने अंदेशे से ही सही–तो न जाने कितनी ठठरियों पर मांस चढ़ जाता।''

शुक्लजी देश प्रेम के समर्थक थे। प्रेम को देश प्रेम तक विकसित करते हुए शुक्लजी भावुक हो गए। अपनी भावनाओं को उन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किया है, ''बाहर निकलो आँखें खोलकर देखो कि खेत कैसे लहलहा रहे हैं, नाले झाड़ियों के बीच से कैसे बह रहे हैं, टेसू के फूलों से वनस्थली कैसी लाल हो रही है, चौपायों के झुंड चरते हैं, चरवाहे तान लड़ा रहे हैं, अमराइयों के बीच में गाँव झाँक रहे हैं। उनमें घुसो, देखो क्या हो रहा है।'' प्रेम के पक्ष के साथ शुक्लजी ने निबंध में लोभियों के अनेक उदाहरण दिए हैं। इन उदारहणों में उनका भाव पक्ष स्वतः प्रकट हो रहा है।

अपनी नाराजगी और क्रोध को दबाते हुए उसे परिहास और व्यंग्य में मिलाकर व्यक्त करते हुए शुक्लजी लिखते हैं, ''लोभियों! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रिय निग्रह, तुम्हारी समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है। तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारी अविवेक, तुम्हारा अन्याय विग्रहणीय है। तुम धन्य हो! तुम्हें धिक्कार है!'' यहाँ धन्य भी धिक्कार का अर्थ दे रहा है और यह सब उनकी भावनात्मक प्रतिक्रिया के कारण हैं। दरअसल, शुक्लजी की भावुकता भी उनके विवेक के अधीन है। उनका भाव पक्ष, विचार–पक्ष द्वारा नियंत्रित और संचालित है। इसलिए यहाँ भी वे प्रवाह में बहते नहीं। चोट करके, विरोध करके, नाराजगी प्रकट करके वे पुनः विचार करने लग जाते हैं। इस तरह हम कह सकते हैं कि आचार्य शुक्लजी विचार करते–करते कभी–कभी भावुक हो जाते हैं और भावुक होते हुए भी उनकी विचार चेतना जाग्रत रहती है तथा वे अपने मूल विषय पर पुनः आ जाते हैं।

12.3 भाषा–शैली

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की भाषा राजा लक्ष्मण सिंह की भाषा–परंपरा में आती है। उन्होंने राजा शिवप्रसाद सितारे–ए–हिंदी की भाषा का अनुसरण नहीं किया। उनकी भाषा संस्कृत, तत्सम निष्ठ थी, तब भी भाषा दुरूह नहीं थी। अर्थ की गम्भीरता के साथ सहज तार्किक प्रवाह उनकी भाषा की अपनी विशेषता है। चूँकि उन्होंने गंभीर–सैद्धांतिक विषयों का विवेचन किया है, इसलिए यह गंभीरता खटकती नहीं। हालाँकि वे कई बार तद्भव शब्दों का भी प्रयोग कर जाते हैं, जब वे सहज परिहास वृत्ति से अपने विषय से थोड़ा–सा भटकते हैं। यह भटकन भी उनकी एक शैली है। सबकी 'टकटकी' 'टके' पर लग गई– इस तरह के सूचनात्मक वाक्यों में उनकी भाषा थोड़ी सहज होती है। भावाभिव्यक्ति के समय शुक्लजी की भाषा भी काव्यात्मक हो जाती है। हालाँकि ऐसे अवसर बहुत कम आते हैं। इस निबंध में देश प्रेम का विवेचन करते हुए उन्होंने काव्यात्मक गद्य लिखा है। वे कई बार सूत्र लिखते हैं और फिर उस सूत्र की व्याख्या करते हैं। जब विषय जटिल होता है तो वे उदाहरणों के द्वारा भी वे उस सूत्र को समझाते हैं। कई बार विश्लेषण के पश्चात् भी वे सूत्र वाक्य द्वारा अपने मत को स्थिर करते हैं। भाषा के जिस स्तर से वे अपने निबंध का प्रारंभ करते हैं, अंत तक उस स्तर को बनाए रखते हैं। ऐसा शायद ही होता हो कि निबंध का एक हिस्सा अधिक प्राणवान और गरिष्ठ हो और दूसरा हिस्सा सरल हो। उनके लेखन का मानसिक सतह बराबर समान बना रहता है। इसका एक कारण यह भी है कि वे निबंधों में भी मौलिक चिंतन करते हैं। यह मौलिकता उनकी शैली को प्रौढ़ बनाए रखती है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल अपने मत को पुष्ट करने के लिए मान्य विद्वानों के मतों को उद्धृत नहीं करते, जैसा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों में देखने को मिलता है। जहाँ पर भी वे किसी भारतीय या पाश्चात्य विद्वान को उद्धृत करते हैं, वहाँ उस मत को पर्याप्त सरल और सामान्य रूप में प्रस्तुत करते हैं। यहाँ उद्धरण की गंभीरता कम हो जाती है। इसका कारण शायद यह है कि उनकी अपनी दृष्टि में अपना मत ही पर्याप्त गंभीर और मौलिक है। अतः अपने मत को स्पष्ट करने के लिए उन्हें किसी अन्य के उद्धरण की आवश्यकता महसूस नहीं होती।

12.4 निबंध में आचार्य शुक्ल का व्यक्तित्व

आचार्य रामचंद्र शुक्ल गम्भीर आलोचक, निबंध लेखक और गंभीर शिक्षक रहे हैं। मनोविकार संबंधी ललित निबंध लिखते समय वे एक अच्छे शिक्षक के रूप में भी दिखाई देते हैं। वे गूढ़ से गूढ़ बातों को, जटिल से जटिल विषय को उसकी जटिलता बनाए रखते हुए भी पाठकों को समझा देते हैं। यह समझाने का आग्रह शुक्लजी के अध्यापक रूप से आया है। इसे समझाने के लिए कई बार निबंध में कुछ उदाहरण देकर अपनी बात स्पष्ट करते हैं। प्रस्तुत निबंध में उन्होंने लोभ और प्रीति का स्वरूप, उनका विविध रूप, इनके परस्पर परिवर्तन आदि सभी बातों को समझा दिया है। उनके चिंतन की स्पष्टता उनके आलोचक के चिंतन से तो आया ही है, उनके दायित्व से भी आया है।

इसके साथ शुक्लजी के व्यक्तित्व में सहज परिहास वृत्ति और व्यंग्य भी देखने को मिलता है। वे चोट करते हैं तो सहलाते भी हैं, झुँझलाते हैं तो नाराज भी होते हैं, समझाते हैं तो फटकारते भी हैं। लेकिन वे लगातार कुछ न कुछ बातें कहते रहना चाहते हैं। इसके बावजूद शुक्लजी कभी हल्का–फुल्का मजाक नहीं करते। उसमें भी

उनके व्यक्तित्व की गरिमा और मर्यादा बनी रहती है। फिर वे चोट के द्वारा पाठक को समझा भी देते हैं। उनका लक्ष्यीभूत पाठक व्यंग्य का शिकार व्यक्ति नहीं होता, वरन् सामान्य पाठक होता है, जिसके ज्ञान की वृद्धि करने के लिए वे लिख रहे होते हैं। इसलिए हम कह सकते हैं कि वे व्यंग्य करके प्रसन्न नहीं होते करुणार्द्र होते हैं और पाठक की उन स्थितियों और मनोभूमि के प्रति सचेत करते हैं।

बोध प्रश्न 2

4. सही कथनों पर (√) तथा गलत पर (×) का निशान लगाइए :

   क) लोभ और प्रीति के मूल पर सुंदर वस्तुओं के प्रति आकर्षण होता है।

   सही ( ) गलत ( )

   ख) लोभी व्यक्ति कभी भी अपने अन्य भावों का दमन नहीं करता।

   सही ( ) गलत ( )

   ग) राम और सीता का प्रेम लोकोन्मुख प्रेम है।

   सही ( ) गलत ( )

5. रूप लोभ के अलावा प्रेम का प्रवर्तक क्या होता है?

....

....

6. 'रस राज' किस रस को कहा गया है?

....

....

7. शुक्लजी किस प्रेम को आदर्श मानते हैं?

....

....

....

....

12.5 संदर्भ सहित व्याख्या

उद्धरण :

कोई वस्तु हमें बहुत अच्छी लगी, किसी वस्तु से हमें बहुत सुख या आनंद मिला, इतने ही पर दुनिया में यह नहीं कहा जाता कि हमने लोभ किया। जब संवेदनात्मक अवयव के साथ इच्छात्मक अवयव का संयोग होगा अर्थात् जब उस वस्तु को प्राप्त करने की, दूर न करने की, नष्ट न होने देने की इच्छा प्रकट होगी तभी हमारा लोभ लोगों पर खुलेगा। इच्छा लोभ या प्रीति का ऐसा आवश्यक अंग है कि यदि किसी को कोई बहुत अच्छा या प्रिय लगता है तो लोग कहते हैं कि वह उसे चाहता है।

संदर्भ :

यह गद्यांश रामचंद्र शुक्ल के निबंध 'लोभ और प्रीति' से लिया गया है। इस निबंध में शुक्ल जी ने 'लोभ और प्रीति' के मनोभावों का बारीकी से विश्लेषण किया है। किसी वस्तु के प्रति लगाव कब लोभ में परिणत हो जाता है, इसकी व्याख्या यहाँ की गई है।

व्याख्या :

शुक्ल जी कहते हैं कि किसी वस्तु का हमें बहुत अच्छा लगना या उससे हमें सुख या प्रसन्नता प्राप्त होना ही उसके प्रति हमारे लोभ को प्रमाणित नहीं करता था। केवल किसी वस्तु का पाना और उससे आनंद मिलना हमारी उसके प्रति लोभ की अभिव्यक्ति नहीं है। लोभ तब होता है, जब हमारे हृदय में उस वस्तु के प्रति गहरी आसंक्ति हो, लगाव हो। हमारे हृदय में यह इच्छा उत्पन्न हो कि वह वस्तु हमें प्राप्त हो, हमेशा हमारे ही पास रहे, कभी हमसे दूर न हो और वह कभी भी नष्ट न हो तो उस वस्तु के प्रति ऐसी भावना हमारे 'लोभ' का कारण होगी । किसी को पाने की अपनाने की इच्छा 'लोभ और प्रीति' दोनों का ही आवश्यक अंग है। शुक्ल जी आगे इस बिन्दु को व्याख्यायित करते हुए कहते हैं कि यदि किसी को कोई बहुत अच्छा लगता है या उसे आता है और प्रिय लगता है तो कहा जाएगा कि वह उसे 'चाहता' है। इसके दो अर्थ हैं– पहला यह कि वह उसे 'प्रेम' करता है और दूसरा यह कि वह उसे चाहने की कामना या इच्छा रखता है। लेखक के अनुसार यही चाहना 'लोभ और प्रीति' है।

यहाँ एक सूत्र वाक्य की व्याख्या की गई है। 'संवेदनात्मक अवयव के साथ इच्छात्मक अवयव का संयोग' को साधारण शब्दों में व्याख्यायित किया गया है।

12.6 सारांश

- सामान्य व्यवहार में हम लोभ और प्रीति को परस्पर विरोधी भाव समझते हैं लेकिन शुक्लजी का मत है कि लोभ और प्रीति में एकता होती है। लोभ ही सात्विक रूप में ग्रहण करने पर प्रीति में बदल जाता है।
- दोनों अच्छी लगने वाली वस्तु या व्यक्ति के प्रति व्यक्त किए हुए भाव होते हैं। अच्छा लगने पर जब उसे प्राप्त करने की इच्छा का उदय होता है, तब इस भाव का पता चलता है।
- लोभ सामान्योन्मुखी होता है, जबकि प्रेम विशेषोन्मुखी होता है।
- वस्तुओं को प्राप्त करने वाला भाव आमतौर से लोभ और व्यक्ति विशेष के लिए व्यक्त किया गया भाव प्रेम होता है।
- आजकल लोभ का अर्थ धन का लोभ माना जाता है। क्योंकि धन से सभी सांसारिक वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती हैं।
- धन का लोभ कभी–कभी मानसिक व्याधि का रूप ग्रहण कर लेता है। इस कारण वह दया, करुणा, क्रोध आदि भावनाओं की अनुभूती और अभिव्यक्ति नहीं कर पाता है।
- प्रेम में आलंबन और आश्रय दोनों चेतना समझ होते हैं। अतः वे दोनों एक ही भाव से परिचालित होते हैं। तभी उनका प्रेम पूर्णता को प्राप्त करता है।

- प्रेम एकांत भाव में भी होता है और लोक जीवन में व्याप्त भी होता है। लोकोन्मुख प्रेम को शुक्लजी पसंद करते हैं।
- देश प्रेम भी प्रेम का ही एक रूप है। हालाँकि शुक्लजी का आदर्श विश्व मानव प्रेम है।
- प्रेम सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार का होता है।

12.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. क) इतने संपर्क की इच्छा जितनी और किसी की न हो।

   ख) इतने संपर्क की इच्छा जितना सब कोई या बहुत से लोग एक साथ रख सकते।

2. असंतोष तथा अन्य वृत्तियों का दमन।

3. (क) सामाजिक विरोध (ख) स्थायी (ग) करुणा, प्रेम (घ) देशप्रेम (ङ) रूप–लोभ (च) निवासियों।

बोध प्रश्न 2

4. (क) (√) (ख) (√) (ग) (√)

5, 6, एवं 7 के लिए 12.2 का पुनः अध्ययन कीजिए।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

इकाई 13 हजारी प्रसाद द्विवेदी और उनके निबंध

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 निबंध का स्वरूप

13.2.1 निबंध और कहानी

13.2.2 साहित्यिक विधा के रूप में निबंध

13.2.3 लेखकीय व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति

13.3 हिंदी निबंध साहित्य की परंपरा और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

13.4 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का परिचय और साहित्य

13.4.1 परिचय

13.4.2 निबंध साहित्य

13.5 हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों की विशेषताएँ

13.6 सारांश

13.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

13.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का परिचय प्राप्त करेंगे और उनके निबंध साहित्य का अध्ययन करेंगे। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आपः

- विधा के रूप में निबंध की उत्पत्ति और स्वरूप के बारे में जान सकेंगे;
- हिंदी निबंध की परंपरा से अवगत हो सकेंगे;
- हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्य के बारे में जान सकेंगे; और
- हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों की विशेषताएँ बता सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी आलोचक, शोधकर्ता, उपन्यासकार और निबंधकार के रूप में हिंदी साहित्य में प्रतिष्ठित है। उनका नाम आचार्य रामचंद्र शुक्ल के साथ लिया जाता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के 'हिंदी साहित्य का इतिहास' के बाद आचार्य द्विवेदी की हिंदी साहित्य का इतिहास से संबंधित पुस्तकें अत्यंत चर्चित रही है। इनमें 'हिंदी साहित्य की भूमिका' और 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' महत्वपूर्ण है। इन पुस्तकों के साथ द्विवेदी जी ने साहित्यिक आलोचना से संबंधित कई पुस्तकें लिखी। इसी क्रम में उन्होंने कई निबंधों का भी लेखन किया। निबंध साहित्य में भी उनका उल्लेख आचार्य रामचंद्र शुक्ल के साथ किया जाता है। इसके अलावा उन्होंने चार उपन्यासों की रचना की। इस पाठ्यक्रम में आप आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंध 'कुटज का अध्ययन करेंगे। अतः इस इकाई में हम द्विवेदी के निबंध साहित्य के

बारे में विशेष चर्चा करेंगे। आचार्य द्विवेदी के लेखकीय व्यक्तित्व के दो रूप हैं– ज्योतिष के आचार्य, भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के जानकार, ज्ञानी, खोजी, संस्कृत के प्रकांड पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी हैं और दूसरे हिंदी साहित्य के आलोचक निबंधकार उपन्यासकार। उन्होंने पांडित्य में 'लालित्य मिलाकर उसे सर्जनात्मक' रूप दे दिया है। कई बार उनका यह रूप ललित निबंधों और उपन्यासों में दृष्टिगत होता है। आइए, पुनः निबंध के स्वरूप और उसकी कुछ विशेशताओं पर दृष्टि डालते हैं।

13.2 निबंध का स्वरूप

निबंध का अर्थ होता है नि + बंध अर्थात् जो रचना अच्छी तरह से बँधी हुई हो अर्थात् सुगठित हो। जिसमें आए हुए विचार क्रमबद्ध रूप में उपस्थित हो। यह निबंध की समुचित परिभाषा नहीं है। इसको ठीक से समझने के लिए कुछ और बातों को भी जान लेना जरूरी है। इनमें से पहली बात तो यह है कि निबंध गद्य रचना है। कविता में लिखी हुई कोई भी रचना निबंध नहीं हो सकती। इसका अर्थ यह भी हुआ कि निबंध आधुनिक गद्य विधा है। यह विधा पारंपरिक रूप से हमारे साहित्य में मौजूद नही थी जैसे महाकाव्य और नाटक मौजूद थे। इसका जन्म आधुनिक काल में, गद्य के विकास के साथ हुआ। फिर यह पाठ्य विधा है, श्रव्य या दृश्य विधा नहीं है। निबंध को पढ़ा जाता है। इसका तात्पर्य यह भी हुआ है कि इसका जन्म पत्रकारिता और विशेष रूप से साहित्यिक पत्रकारिता के बाद हुआ। अखबार या पत्रिका का पाठक और सामग्री के साथ निबंध को भी पढ़ना पसंद करता है। यहाँ यह कहना समीचीन होगा कि हिंदी में भारतेंदु युग और द्विवेदी युग में जब साहित्यिक पत्रकारिता का उदय हुआ था, निबंध का प्रारंभ और विकास हुआ। इसी समय हिंदी निबंध ने अपना स्वरूप ग्रहण किया। जिस पर हम आगे अध्ययन करेंगे।

निबंध का आकार छोटा होता है, जिसे हम एक बैठक में पढ़ सकते हैं। निबंध की कोई एक पुस्तक नहीं होती। अपितु एक पुस्तक में कई निबंध हो सकते हैं। निबंध संक्षिप्त होता है, इसका एक तात्पर्य यह भी है कि इसका एक सुसंबद्ध विषय होता है। निबंध लेखक एक केन्द्रीय विषय पर अपने विचार व्यक्त करता है। वह उसमें अनेक बातें नहीं कहता। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'ईर्ष्या' विषय पर निबंध लिखा, तब उन्होंने अपने विचार इसी विषय पर केन्द्रित रखे। 'उत्साह' पर लिखने के लिए उन्होंने नया निबंध लिखा। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने एक ही निबंध में 'अशोक के फूल' 'देवदारु' और 'कुटज' के संदर्भ में विचार नहीं किया। उन्होंने इन विषयों पर अलग–अलग निबंधों की रचना की।

13.2.1 निबंध और कहानी

निबंध और कहानी संक्षिप्त होते हैं। एक ही बैठक में इन्हें पढ़ सकते हैं। दोनों पाठ्य विधाएँ हैं। चाहें तो कहानी सुन भी सकते हैं। पुरानी लोक कथाएँ तो सुनी ही जाती थीं। इतनी दूर तक दोनों में समानता के बाद इनमें मूलभूत अन्तर भी है। निबंध कथेतर गद्य विधा है। कहानी में कहानी होती है। कहानी में पात्र होते हैं। लेखक उनके बारे में कुछ बातें कहता है। निबंध में कोई कहानी नहीं होती और न कोई पात्र होते हैं। निबंध में लेखक स्वयं उपस्थित रहता है और वह सीधे पाठकों को संबोधित करता है। अर्थात् लेखक और पाठक के बीच कोई अन्य नहीं होता। कहानी में लेखक पात्रों के पर्दे के पीछे होता है। पाठक के सामने केवल पात्र होते हैं। कहानी में एक कथा होती है, जो विकसित होती है। निबंध में लेखक एक ही विषय के आसपास

मँडराता रहता है। यदि वह आगे बढ़ता है, तो भी घूम फिर कर वह वापिस मूल विषय पर लौट आता है। इसके साथ कथा साहित्य में, विशेष रूप से उपन्यास और कहानी में लेखक कल्पना करता है। ऐसे पात्रों का सर्जन करता है जो पहले कभी नहीं होते। निबंध में इस तरह की किसी कल्पना की जरूरत नहीं होती। वह सीधे विषय पर आगे बढ़ सकता है। इस तरह सर्जनात्मकता, कल्पनाशीलता की आवश्यकता निबंध लेखक को नहीं होती। उसमें यथा तथ्यता होती है। आपके मन में प्रश्न उठेगा कि निबंध साहित्यिक विधा कैसे है कि इस विषय पर भी संक्षेप में जान लेना उपयोगी होगा।

13.2.2 साहित्यिक विधा के रूप में निबंध

साहित्य समीक्षकों का विचार है कि निबंध गद्य की कसौटी होता है। लेखक की भाषा का सामर्थ्य निबंध में प्रकट होता है। निबंध अपना स्वरूप विकसित करता रहता है। इसलिए दो निबंध दो भिन्न रूप में हमारे सामने आते हैं। तब भी मोटे तौर पर निबंध के दो तत्व होते हैं – विचार और भाव। निबंध में लेखक कुछ विचार व्यक्त करता है, कुछ बातें वह कहना चाहता है। इसके साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि निबंध लेखक सिर्फ जानकारी तक अपने आपको सीमित नहीं रखता। जिस रचना में सिर्फ जानकारियाँ भरी रहती हैं, वह तो साहित्य की श्रेणी में ही नहीं आतीं। उन जानकारियों के संबंध में लेखक की अपनी भावनाएँ भी होती हैं। लेखक अपनी उन भावनाओं को भी अभिव्यक्त करता है। इसलिए निबंध के स्वरूप को समझाते हुए विचारक यह कहते हैं कि निबंध में भाव और विचार दोनों होते हैं।

निबंध के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आलोचक आमतौर से डॉ. जानसन के मत को उद्धृत करते रहते हैं कि निबंध तो मुक्त मन की मौज और अनियंत्रित कल्पना की रचना होती है, न कि नियमबद्ध और व्यवस्थित कृति। इसलिए कई बार निबंध लेखक स्वच्छंदतापूर्वक अपने मन की बात कहता हुआ जान पड़ता है, जैसे बालकुमुन्द गुप्त या हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबंधों में हम देखते हैं। इनकी तुलना में रामचंद्र शुक्ल व्यवस्थित रूप से अपनी बात कहते हैं। भाव और मनोविकार संबंधी निबंधों में वे पूरी तरह से अपने विषय पर केन्द्रित रहते हैं। भारतेंदु युग के निबंध लेखकों की 'जिंदादिली' इसी स्वच्छंद रूप विधान से आई है। निबंध का स्वरूप विवेचन करते हुए ''साहित्य कोश, भाग 2'' में कहा गया है कि ''निबंध के लक्षणों में स्वच्छंदता, सरलता और आडंबरहीनता तथा घनिष्ठता और आत्मीयता के साथ लेखक के वैयक्तिक आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण का भी उल्लेख किया जाता है। परंतु ये लक्षण विभिन्न लेखकों की कृतियों में कितने विविध रूपों में मिलते हैं, इसे स्मरण रखना आवश्यक है। निबंधकार की स्वच्छंदता उच्छृंखलता नहीं है, उसकी अनियमितता में भी एक नियम है और उसकी अव्यवस्था में भी एक व्यवस्था।''

13.2.3 लेखकीय व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति

इस तरह निबंध का एक तत्व और होता है, जो निबंध में व्यक्त भावों और विचारों को व्यवस्थित करता है, उन्हें दिशा देता ही, वह है स्वयं लेखक का व्यक्तित्व। लेखक यह व्यक्तित्व उस निबंध में उपस्थित रहता है। प्रत्येक स्थिति पर लेखक स्वयं टिप्पणी करता जाता है और पाठक से अपने विचार आमंत्रित करता है। इसलिए निबंध का सजग पाठक केवल गृहीता ही नहीं होता, वह स्वयं भी मन ही मन उस विषय पर अपनी टिप्पणी करता जाता है। इससे पाठक से लेखक की निकटता और आत्मीयता बढ़ती जाती है। प्रस्तुत विषय के साथ–साथ लेखक अपने नितान्त निजी जीवन के

अनुभव भी सुनाता जाता है और आत्मीयता के साथ उसमें भाग लेने के लिए लेखक पाठक को भी आमंत्रित करता रहता है। लेखक और पाठक जितनी घनिष्ठ आत्मीयता से जुड़ते जाते हैं, निबंध का ग्रहण उतना ही सहज होता जाता है। जाहिर है कि प्रत्येक लेखक का व्यक्तित्व अलग होता है। उसके व्यक्तित्व का स्तर अलग होता है। उसी स्तर के अनुरूप ही वह अपने आपको व्यक्त कर पाता है और पाठक उसी अनुपात में उसको पसंद या नापसंद करता जाता है। लेखक यदि छिछला है, सतही है, तो सुविज्ञ पाठक कभी उससे संतुष्ट नहीं हो पाता। परंतु निबंध में निबंध लेखक का व्यक्तित्व उपस्थित रहता है और लेखक की यही उपस्थिति उस लेख को आत्माभिव्यक्ति साहित्यिक निबंध का गौरव देती है।

निबंध के इस अव्यस्थित गठन से आगे चलकर अनेक कथेतर गद्य विधाओं का जन्म हुआ है। इनमें यात्रा–वृतांत, संस्मरण, डायरी, आत्मकथा, रिपोर्ताज आदि का विकास हुआ है। जिस तरह कथा साहित्य की केन्द्रीय विधा कहानी और उपन्यास है, उसी तरह कथेतर गद्य–विधाओं की केन्द्रीय विधा निबंध है। भारतेन्दु युग में इसी निबंध के साथ–साथ अन्य गद्य–विधाओं की केन्द्रीय विधा निबंध है। भारतेन्दु युग में उसी निबंध के साथ–साथ अन्य गद्य–विधाओं का भी जन्म हुआ है। इसके बारे में आप पाठ्यक्रम की इकाई 2 में अध्ययन कर चुके हैं।

अब तक आपने जो अध्ययन किया उसके मुख्य बिंदु हैं–इस प्रकार हैं :

- निबंध एक कथेतर गद्य रचना है।
- इसका उद्भव आधुनिक युग में पत्रकारिता के उदय के साथ होता है।
- निबंध का आकार छोटा होता है। इसको एक बैठक में पढ़ा जा सकता है।
- निबंध में भाव और विचार के साथ–साथ लेखक के व्यक्तित्व की उपस्थिति रहती है।
- कविता के छन्दों की तरह निबंध का स्वरूप निश्चित नहीं होता। वह अपना रूप बदलता रहता है।
- निबंध से संस्मरण, आत्मकथा, डायरी, रिपोर्ताज आदि अन्य कथेतर गद्य विधाओं का जन्म हुआ।

बोध प्रश्न

1. निम्नलिखित में से सही कथनों पर (√) और गलत पर (×) का निशान लगाइए :

   क) निबंध का जन्म नाटक से होता है। सही / गलत

   ख) निबंध छंदोंबद्ध गद्य रचना है। सही / गलत

   ग) निबंध गद्य की कसौटी है। सही / गलत

   घ) निबंध में सिर्फ जानकारियाँ भरी होती है। सही / गलत

2. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए :

   क) निबंध से किन–किन गद्य विधाओं का विकास हुआ है ? (3 पंक्तियों में)

   ....

   ....

ख) निबंध और कहानी का अंतर स्पष्ट कीजिए। (4 पंक्तियों में)

....

....

....

....

ग) निबंध लेखन में लेखक के व्यक्तित्व की भूमिका स्पष्ट कीजिए। (4 पंक्तियों में)

....

....

....

....

13.3 हिंदी निबंध साहित्य की परंपरा और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी से पूर्व हिंदी निबंधों की समृद्ध परंपरा रही है। आधुनिक हिंदी साहित्य के प्रारंभ के साथ ही निबंध लेखन का प्रारंभ हो गया था। भारतेंदु युग के लेखकों ने इस साहित्य का सूत्रपात किया। सन् 1875 से 1900 तक हिंदी निबंध लेखकों की जो पीढ़ी सक्रिय थी, उनमें भारतेंदु हरिश्चंद्र के साथ बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, लाला श्री निवास दास, राधाचरण, गोस्वामी, काशीनाथ खत्री, बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन आदि मुख्य थे। इस संदर्भ में आप विस्तार से इकाई 1 तथा 2 में अध्ययन कर चुके हैं। इस युग में मुद्रण कला का प्रारंभ हुआ। इससे हिंदी में पत्रकारिता और विशेषतः साहित्यिक पत्रकारिता का उदय हुआ। हिंदी के प्रारंभिक निबंध इन पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। इनमें कविवचन सुधा, हिंदी प्रदीप, ब्राह्मण, आनंद कादंम्बिनी, हिंदुस्थान आदि मुख्य हैं। यहाँ इस तथ्य को भी रेखांकित किया जाना चाहिए कि आधुनिक काल के आरंभिक निबंध लेखक पत्रकार थे और निबंध उनकी पत्रिकाओं के लिए सर्वाधिक उपयोगी सामग्री थी। इस विधा में पाठकों से सीधे संप्रेषण की सर्वाधिक संभावना थी, जिसका इन लेखकों ने उपयोग किया। उस युग के निबंधों के विषय की विविधिता आज भी हमें चकित करती है। देश प्रेम और समाज सुधार की भावना तो इनमें कूट–कूट कर भरी हुई थी। साथ ही अतीत के गौरव का गान, विदेशी शासन के मधुर आक्रोश, हास्य, व्यंग्य, विनोद, स्त्रियों की दशा, शिक्षा का प्रचार इनके मुख्य विषय थे। ये निबंध गंभीर, बोझिल और विवेचनात्मक नहीं हुआ करते थे, वरन् इनमें चुटकी लेने का भाव और ''जिंदादिली'' रहा करती थी, ताकि पाठक मनोयोगपूर्वक इनको पढ़ सके। बालकृष्ण भट्ट को हिंदी निबंध का जनक माना जाता है। आत्म निर्भरता, चारु चरित्र, आँसू, मुग्ध–माधुरी, चंद्रोदय, शंकराचार्य, नानक, कान, नाक, बातचीत बुढ़ापा, होली, धोखा, अमा आदि विविध जीवनोपयोगी विषयों पर इन्होंने निबंध लिखे।

सन् 1900 से 'सरस्वती' पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। इसके पश्चात् हिंदी में गंभीर निबंध–साहित्य की रचना प्रारंभ हुई। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसी दौर में निबंध लिखे। महावीर प्रसाद द्विवेदी, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, सरदार पूर्ण सिंह, पार्वती नंदन,

गणेश शंकर विद्यार्थी, श्याम सुंदर दास, राम कृष्ण दास उस दौर के महत्वपूर्ण निंबध लेखक थे। इस दौर के लेखकों में जीवन को गहराई से समझने–समझाने की आकांक्षा दिखाई देती है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने रस–सिद्धांत के आधार को स्पष्ट करने वाले भाव व मनोविकारों संबंधी निबंध लिखे। ये एक तरफ तो ललित निबंधों की श्रेणी में आते हैं, दूसरी तरफ इनकी गणना काव्यशास्त्रीय निबंधों में भी होती है।

इस पृष्ठभूमि में हिंदी में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी निबंध के क्षेत्र में आते हैं। उनके लेखन के बाद हिंदी निबंधों की रचना में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। अब हिंदी में दो तरह के निबंधों की चर्चा होने लगी। वस्तु प्रधान निबंध, जो आचार्य रामचंद्र शुक्ल के निबंध माने गए और व्यक्ति प्रधान निबंधों की श्रेणी में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों को रखा गया। इस इकाई में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और उनके निबंधों का अध्ययन करेंगे।

13.4 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का परिचय और साहित्य

13.4.1 परिचय

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी (1907–1979) का जन्म आरत दूबे का छपरा, जिला बलिया, उत्तर प्रदेश में संस्कृतज्ञ परिवार में हुआ। उनकी आरंभिक शिक्षा गाँव में हुई। फिर उन्होंने काशी से ज्योतिष विद्या में आचार्य की उपाधि प्राप्त की। सन् 1930 में द्विवेदी जी शांतिनिकेतन में हिंदी के अध्यापक बनकर गए। यह उनके जीवन का निर्णायक मोड़ था। यहाँ वे गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर और क्षितिमोहन सेन जैसे प्रबुद्ध विचारकों के संपर्क में आए। वे विधिवत रूप से हिंदी के छात्र कभी नहीं रहे। हिंदी का उनका ज्ञान कठिन स्वाध्याय से आया। यहाँ वे बीस वर्षों तक रहे। यहीं से उनकी आरंभिक कृतियाँ प्रकाशित हुईं। हिंदी साहित्य की भूमिका (1940), सूर–साहित्य (1936), कबीर (1942), अशोक के फूल (1948), बाणभट्ट की आत्मकथा (1946) का लेखन एवं प्रकाशन शांतिनिकेतन में हुआ। सन् 1949 में लखनऊ विश्वविद्यालय ने इन्हें डी.लिट. की मानद उपाधि प्रदान की।

जुलाई 1950 में द्विवेदी जी बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में प्रोफेसर एवं अध्यक्ष बनाए गए। इसके बाद द्विवेदी जी पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ में हिंदी विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष बनाए गए। यहाँ से सन् 1967 में वे पुनः बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में आ गये, जहाँ से सन् 1970 में सेवानिवृत हुए। सन् 1957 में इन्हें भारत सरकार की तरफ से पद्मभूषण की उपाधि प्राप्त हुई।

द्विवेदी जी हिंदी, बंगला, अंग्रेजी और संस्कृत के विद्वान थे। बनारस, आचार्य रामचंद्र शुक्ल की कर्म भूमि थी। अतः उन्हें यहाँ अपने आपको प्रमाणित करने के लिए संघर्ष करना पड़ा। द्विवेदी जी ने निबंध, उपन्यास, हिंदी साहित्य का इतिहास, शोध और आलोचना के क्षेत्र में काम किया। उन्होंने जिस भी क्षेत्र में काम किया, उस क्षेत्र में उन्हें प्रतिष्ठा मिली। उन्होंने चार उपन्यास लिखे–'बाणभट्ट की आत्मकथा' के अलावा 'चारूचंद्रलेख', 'पुनर्नवा' और 'अनामदास का पोथा'। आलोचना के क्षेत्र में द्विवेदी जी रवीद्रनाथ टैगोर, कालिदास के प्रशंसक थे, लेकिन अपने मत का विस्तार करते हुए उन्होंने 'कबीर' पर लिखा। 'कबीर' के मूल्यांकन का महत्व आज भी यथावत बना हुआ है। 'निबंध' हालाँकि उनकी प्रिय विधा नहीं थी, फिर भी इसी विधा पर सन् 1973, में ''आलोक पर्व'' निबंध संग्रह पर उन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार प्रदान किया गया। निबंध साहित्य में उनका नाम आचार्य रामचंद्र शुक्ल के साथ लिया जाता है। उपन्यास

साहित्य में उनकी गणना फणीश्वरनाथ रेणु के साथ की जाती है। आलोचना और हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन में तो वे अप्रतिम थे ही, उनकी प्रत्येक रचना उस विधा में सर्वाधिक स्वीकृत रचनाओं में से आती है। हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की कोई चर्चा 'हिंदी साहित्य की भूमिका' के बिना संभव नहीं है। वे सही अर्थों में बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। निबंध के क्षेत्र में उन्होंने नई परंपरा की नींव रखी। इस परंपरा में आगे चलकर विद्यानिवास मिश्र, कुबेरनाथ राय आदि अनेक निबंधकार हुए।

13.4.2 निबंध–साहित्य

उपन्यास, हिंदी साहित्य का इतिहास, शोध एवं आलोचना के साथ उन्होंने निबंधों की भी रचना की है। यहाँ इस तथ्य को जान लेना उपयोगी होगा कि द्विवेदी जी को साहित्य अकादमी पुरस्कार उनके निबंध संग्रह पर प्रदान किया गया था, जिसका उल्लेख हम इकाई के 13.5.1 बिंदु में कर चुके हैं। स्वतंत्र निबंध संग्रहों के अलावा उनकी कुछ आलोचनात्मक पुस्तकें भी निबंध की शैली में हैं। 'साहित्य–सहचर' को इस कोटि में रखा जा सकता है। 'मध्य युगीन बोध का स्वरूप' और 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' हालाँकि उनके व्याख्यान हैं, परंतु उनकी प्रकृति भी निबंधपरक ही है। इस तरह उनके निबंधों को दो भागों में बाँटा जा सकता है –ललित निबंध और आलोचनात्मक निबंध। आमतौर से ललित निबंधों को ही निबंध साहित्य की श्रेणी में माना जाता है। तब भी संक्षिप्त होने के कारण और अपने आप में पूर्ण होने के कारण कुछ विद्वान आलोचनात्मक निबंधों को भी निबंध साहित्य की श्रेणी में ही मानते हैं।

आचार्य द्विवेदी के प्रमुख निबंध संग्रह हैं–अशोक के फूल (1948), कल्पलता (1954), विचार और विर्तक (1959), कुटज (1964), आलोक पर्व (1972) आदि। इन निबंध संग्रहों में उनके कई शोधपरक निबंध भी शामिल कर लिए गए हैं।

हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों को विद्यालयी स्तर के पाठ्यक्रम में भी शामिल किया जाता रहा है। इसलिए आपने भी उनके कई निबंधों का अध्ययन कर लिया होगा। उनके चर्चित निबंध हैं–अशोक के फूल, शिरीष के फूल, कुटज, देवदारु, आम फिर बौरा गए, बसंत आ गया है, नाखून क्यों बढ़ते हैं, जबकि दिमाग खाली है शव–साधना, ठाकुरजी की बटोर आदि। डॉ. नामवरसिंह ने इस तथ्य का भी जिक्र किया है कि द्विवेदी जी की पुस्तक 'कल्पलता' में 'कल्पलता' शीर्षक से कोई निबंध नहीं है। 'कल्पवृक्ष' के स्थान पर उनको 'कल्पलता' अधिक पसंद थी और द्विवेदी जी के प्रिय कवि कालिदास को भी कल्पलता अधिक पसंद थी, शायद अपनी प्रकृति में स्वच्छंदता और चंचलता के कारण। वे अपने निबंधों के विषय प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति से उठाते हैं और फिर उसे समकालीन जीवन और चिन्तन तक ले आते हैं। इसमें ज्योतिष, इतिहास, साहित्य, मानव–जीवन के विविध पक्ष जुड़ते रहते हैं। बीच–बीच में वे हास्य–व्यंग्य–विनोद के द्वारा विषय को बोधगम्य बनाते चलते हैं। ऐसा करते समय वे अपनी बात को हल्का नहीं करते। उसकी गंभीरता बनी रहती है। फिर उनके कथ्य के निष्कर्ष बहुत दूर तक जाते हैं। सिर्फ प्रस्तुत संदर्भ तक ही सीमित नहीं रहते।

13.5 हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों की विशेषताएँ

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का नाम आचार्य रामचंद्र शुक्ल के निबंधों के साथ लिया जाता है। हालाँकि दोनों के निबंधों में किसी तरह की कोई समानता नहीं है। शुक्ल

जी ने भाव और मनोविकार संबंधी निबंध लिखे हैं। इन निबंधों में उन भावों का मनोवैज्ञानिक और काव्यशास्त्रीय विश्लेषण किया गया है। वे संबंधित विषय की पूरी समझ देते हैं। इसलिए ये विषय प्रधान निबंधों की श्रेणी में आते हैं। साहित्य के जानकार गद्यपि इन्हें काव्यशास्त्रीय निबंधों की श्रेणी में ही रखते हैं। ये उस रूप में ललित निबंध नहीं है। हालाँकि शुक्ल जी बीच–बीच में इनमें लालित्य प्रदान करने की कोशिश करते हैं।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों में भी गंभीर शोध और शास्त्रीय चिन्तन है। लेकिन ये विषय प्रधान निबंध नहीं है। ये व्यक्ति प्रधान निबंध हैं। द्विवेदी जी से निबंध में प्रस्तुत विषय का जो संबंध है, उस पर वे जोर देते हैं और तब उस विषय की प्रासंगिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। इसमें भी जानकारी होती है। चाहे 'अशोक का फूल' निबंध हो या 'कुटज'–सबके बारे में द्विवेदी जी प्राथमिक जानकारी देते हैं, लेकिन केवल इस जानकारी को देने के लिए ये निबंध नहीं लिखे गए हैं। जानकारी के बाद वे कुछ 'और' कहते हैं और इस 'और' को कहने के लिए ये निबंध लिखे गए हैं। उनके कई निबंधों के शीर्षक पेड़–पौधों पर हैं। परंतु वे सिर्फ पेड़–पौधों के बारे में ही नहीं लिखते। वे कुछ और बातें कहना चाहते हैं। अतः उनके निबंधों को जानने के लिए उनकी विचार–प्रणाली को जान लेना जरूरी है। दरअसल वे 'भारतीय चिंताधारा के विकास' को जानना समझना चाहते हैं और इस क्रम में वे अशोक, देवदारु, आम या कुटज के बारे में लिखते हैं।

द्विवेदी जी के निबंध जिस हिंदी पाठक को संबोधित है, उसकी कुछ विशेषताओं का जिक्र द्विवेदी जी ने स्वयं ही किया है। यह वह पाठक है जो 'नाना कारणों से' अपने प्राचीन साहित्य और संस्कृति की बातों और घटनाओं से 'अपरिचित' हो गया है। उनके अनुसार आज का यह पाठक न केवल प्राचीन भारतीय संस्कृति से अपरिचित हो गया है वरन् वे सब बातें उसे बड़ी विचित्र, अद्भुत, नयी और रोमांचकारी लगती है। जिन बातों को वह जानता है, उनका भी वह 'अभ्यस्त' हो गया है। अभ्यस्त होने के कारण उन्हें फिर से जानने और जाँचने की जिज्ञासा भी नहीं बची। पंडितजी ऐसे नादान, अभ्यस्त पाठक को प्राचीन ज्ञान–भंडार में घुमाते हैं और कुशल 'गाइड' की तरह उसे 'ज्ञान का प्राचीन भण्डार' दिखाते हैं। इसके लिए पहले तो उसके मन में 'जिज्ञासा' उत्पन्न करते हैं और तब उस 'जिज्ञासा को शांत करते हैं।'

द्विवेदी जी के निबंधों को इसी दृष्टि से पढ़ने की जरूरत है। इसलिए उनके अलग–अलग विषयों पर लिखे हुए निबंध भी एक ही निबंध का विस्तार लगते हैं। 'अशोक के फूल' पर जो कुछ द्विवेदी जी लिख चुके हैं, उसी का अगला हिस्सा 'कुटज' और 'देवदारु' में मिलता है। जो बातें पहले कही जा चुकी हैं, उनको वे थोड़ा–सा फिर से कहते हैं, और फिर उन बातों में कुछ नई बातें जोड़ देते हैं। आमतौर से निबंध मुक्तक विधा की तरह स्वतंत्र होते हैं। एक ही लेखक के दूसरे निबंध से उसका कोई रिश्ता नहीं होता। लेकिन द्विवेदी जी के निबंधों में ऐसा नहीं होता। वे परस्पर संबद्ध होते हैं। इनके आपसी रिश्ते के साथ द्विवेदी जी का व्यक्तित्व भी सभी निबंधों में एक जैसा ही है। वे निबंधों में 'आत्म' का अभिनय नहीं करते, आत्माभिव्यक्ति करते हैं, जो एक जैसी होने के कारण एक जैसी बनी भी रहती है। अतः द्विवेदी जी के निबंधों में महाकाव्यात्मकता दिखाई देती है।

पाठक से संबंध

द्विवेदी जी के निबंधों के 'नादान' पाठक और उनके लेखक में अलगाव है। द्विवेदी जी कभी पाठक के स्तर पर नहीं आते। वे उस स्तर से हमेशा ऊपर रहते हैं। वे पाठक

को बताने–समझाने की भूमिका में रहते हैं। असल में द्विवेदी जी तो अपने विषय के गंभीर पंडित हैं। द्विवेदी जी को इस बात का अहसास भी है। अब तक के हिंदी निबंध लेखक या तो पाठक के स्तर पर उतर जाते रहे हैं या पाठक से यह अपेक्षा करते हैं कि वह उनके स्तर तक आ जाए। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की कामना निबंधों में यही रहती है। लेकिन द्विवेदी जी ऐसा नहीं करते। फिर भी वे अपने पाठक से संप्रेषण की स्थिति में आ जाते हैं। लेखक और पाठक के बीच की इस दूरी को द्विवेदी जी अपनी सर्जनात्मकता से पाटते हैं। इस क्रम में वे स्वयं भी सहज बन जाते हैं और पाठक को भी सहज स्थिति में ले आते हैं। इस तरह आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों को पढ़कर हम अपने देश की समृद्ध प्राचीन परंपराओं से परिचित होते जाते हैं। इस कार्य में द्विवेदी जी को भी 'रस' आता है। आनंद आता है। इस आनंद की प्राप्ति के लिए वे अपने पांडित्य को परे हटाने के लिए तत्पर हो जाते हैं। यह उनके निबंधों का सौन्दर्य है।

द्विवेदी के निबंध सूचनात्मक नहीं है। वे सिर्फ जानकारी नहीं देते। इसलिए उन्हें अध्ययन परक निबंधों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। वे इस जानकारी से 'रससृष्टि' करते हैं। पाठक को आनंद प्रदान करते हैं। इसलिए ये ललित निबंध हैं। द्विवेदी जी को प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के 'मार्मिक स्थलों' की पहचान है। वे उन मार्मिक स्थलों का वर्णन करते हैं। उदाहरण के लिए संस्कृत का प्रत्येक अध्येता कालिदास को तो अवश्य पढ़ता है। उनके बारे में तो वह जानता ही है। तब भी द्विवेदी जी जब अशोक के फूल का रिश्ता कालिदास से जोड़कर दिखाते हैं तो पाठक को अलग ही तरह के आनंद की अनुभूति होती है। उन्होंने 'अशोक के फूल निबंध में लिखा, ''अशोक के फूल को जो सम्मान कालिदास से मिला वह अपूर्व था। सुंदरियों के आसिंजनकारी नुपूर वाले चरणों के मृदु आघात से वह फूलता था, कोमल कपोलों पर कर्णावतंस के रूप में झूलता था और चंचल नील अलकों की अचंचल शोभा को सौ गुना बढ़ा देता था।'' यहाँ द्विवेदी जी ने कालिदास की रचनाओं में आए हुए उन अंशों को उद्धृत किया है, जिनमें कालिदास ने अशोक के फूल का उल्लेख किया था। इसी तरह द्विवेदी जी ने कुटज के सौभाग्य का भी वर्णन कालिदास के माध्यम से किया है। द्विवेदी जी आगे लिखते हैं कि अशोक का यह फूल भारतीय साहित्य को गंधर्वों की देन है। इसके माध्यम से वे यह कहना चाहते हैं कि प्राचीन भारतीय संस्कृति केवल आर्य नहीं है। यदि यह आर्य संस्कृति ही होती, तो कालिदास जैसे कवि की रचनाओं में यह अनार्य फूल इतनी गरिमा के साथ कैसे आ सकता था। इसी निबंध में द्विवेदी जी लिखते हैं कि भारतीय संस्कृति के निर्माण में सिर्फ आर्यों का योगदान ही नहीं है। केवल आर्य, द्रविड़, निर्माण में सिर्फ आर्यों का योगदान ही नहीं है। केवल आर्य कोल, मुण्डा और किरात जातियाँ ही इसमें नहीं आई है, कितनी ही ऐसी जातियाँ यहाँ आई हैं, जिन्हें निश्चित रूप से किसी खास श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। फिर उत्तर–पश्चिम से नाना जातियाँ राजनीतिक और आर्थिक कारणों से आती रही है। उन सबके सम्मिलित प्रयत्न से वह महिमाशालिनी संस्कृति उत्पन्न हुई है, जिसे हमें ''भारतीय संस्कृति'' कहते हैं।

वैसे द्विवेदी जी भारतीय और पाश्चात्य संस्कृति में कोई भेद नहीं करते। वे कहते हैं कि सभी मनुष्यों की एक ही संस्कृति है। द्विवेदी जी इस संस्कृति की अति प्राचीनता में तो विश्वास करते हैं, परंतु इसकी धारणा की शाश्वत अपरिवर्तनशीलता में विश्वास नहीं करते। वे कहते हैं, ''मुझे मानव जाति की दुर्दम–निर्मम धारा के हजारों वर्ष का रूप साफ दिखाई दे रहा है। मनुष्य की जीवनी शक्ति बड़ी निर्मम है, वह सभ्यता और

संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है। न जाने कितने धर्माचारों, विश्वासों, उत्सवों और व्रतों को धोती–बहाती यह जीवनधारा आगे बढ़ी है। संघर्षों से मनुष्य ने नयी शक्ति पायी है। हमारे सामने समाज का आज जो रूप है, वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग का रूप है। देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बाद की बात है। सब कुछ में मिलावट है, सब कुछ अविशुद्ध है। शुद्ध है केवल मनुष्य की दुर्दम जीजिविषा (जीने की इच्छा)।''

द्विवेजी जी इतिहास और परंपरा के अध्येता है, लेकिन इसे वे 'शव साधना' कहते हैं। आम–तौर से प्राचीन साहित्य संस्कृति का अध्येता उसकी महानता, शाश्वतता एवं पवित्रता का समर्थक हो जाता है। इस अर्थ में द्विवेदी जी एकदम 'आधुनिक' हैं। द्विवेदी जी की कुछ बद्धमूल मान्यताएँ रही हैं, जिनको उनके शोध एवं अध्ययन ने उन्हें दिया है या जिनके आधार पर उन्होंने ज्ञान–साधना की है :

1. मनुष्य ही इस सृष्टि में सर्वश्रेष्ठ है। इसलिए जो चीज मनुष्य के हित में है, वह अच्छी है।

2. सारी दुनिया के मनुष्यों का मन समान है, परिस्थितियों में परिवर्तन के कारण उसकी बाह्य अभिव्यक्ति में अंतर आ जाता है, परन्तु है वह मूलतः एक जैसा ही। अतः पूर्व–पश्चिम का भेद कृत्रिम है।

3. भारतीय संस्कृति शुद्ध आर्य संस्कृति नहीं है वह अनेक आर्येतर जातियों की मान्यताओं के मिश्रण से बनी है। ''सब कुछ में मिलावट है, सब– कुछ अविशुद्ध है, शुद्ध है केवल मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा (जीने की इच्छा)।''

4. संस्कृति परिवर्तनशील और विकासशील है।

'विचार और वितर्क' संग्रह में उन्होंने लिखा है, ''प्राचीन युग मर चुका है, वह जी नहीं सकता, फिर भी उसकी अच्छी जानकारी हुए बिना सिद्धि नहीं मिल सकती। शास्त्रज्ञान का लक्ष्य शास्त्र ज्ञान नहीं है। इस प्राचीन युग के आचार–विचार के अध्ययन का लक्ष्य वह आचार–विचार नहीं है, लक्ष्य है भविष्य का युग। हमारे समूचे प्राक्तन तत्वों का ज्ञान हमारे भविष्य के निर्माण में सहायक नहीं होता तो वह बेकार है। यदि कोई पण्डित समझता है कि पुराना जमाना जी आएगा, पुराने आचार फिर से प्रचलित हो जाएँगे, पुराना गौरव फिर पनप उठेगा तो उसमें अपनी साधना को रहस्य नहीं समझा है। इन सबका लक्ष्य है इस युग के कोटि –कोटि मनुष्यों को परमुखापेक्षित, दरिद्रता, अज्ञान और शोषण से मुक्त करना है।''

ये मूलभूत विचार उनके सभी निबंधों में मिलते हैं। किसी निबंध में किसी एक पर, तो दूसरे निबंध में किसी दूसरे बिंदु पर बल है। इसलिए उनके निबंधों को संपूर्णता में समझने की जरूरत है। द्विवेदी जी ने दो तरह के निबंध लिखे हैं। कुछ निबंध आलोचनात्मक निबंध है या साहित्य चिंतन से संबंधित है। उसमें वे अपने विषय को गंभीरता से समझाते हैं। वे ललित निबंध नहीं है। ललित निबंध के अंतर्गत 'अशोक के फूल', 'आम फिर बौरा गए हैं', जैसे निबंध आते हैं। जिनमें चिंतन के साथ–साथ द्विवेदी जी अपने बारे में भी कुछ टिप्पणियाँ भी करते जाते हैं। परिहास करते समय वे अपना भी लिहाज नहीं करते। आलोचनात्मक निबंधों में इसकी गुंजाइश नहीं रहती। वहाँ उन्हें शास्त्रीय गरिमा को बनाए रखनी होती है। द्विवेदी जी आलोचनात्मक निबंधों में इसका पालन करते हैं।

इनके ललित निबंधों में कई गूढ़ प्रसंग आ जाते हैं। किसी जटिल प्रसंग को अत्यंत संक्षेप में संकेतिक करके वे आगे बढ़ जाते हैं। पाठक उस प्रसंग को समझ पाते हैं, तब भी अच्छा है और यदि नहीं समझ पाते तब भी निबंध का अभिप्रेत अर्थ संकेतित हो जाता है। आमतौर से प्राचीन साहित्य और संस्कृति के विभिन्न प्रकरणों में विचरण करने के कारण उनकी भाषा और उनके दिए हुए उद्धरण संस्कृत निष्ठ होते हैं। यह अलग बात है कि बीच–बीच में द्विवेदी जी पांडित्य के इस घटा टोप को उतार फेंकते हैं और देशज प्रकरणों के साथ पाठक से अपना सहज रिश्ता कायम करने में कामयाब हो जाते हैं। इसी तरह कई लोकोक्तियाँ, मुहावरे, लोक का कोई प्रकरण वे अभिव्यक्त करते जाते हैं, जिनकी पृष्ठभूमि में कोई गहरा तत्ववाद छिपा रहता है। द्विवेदी जी अपने इन निबंधों में परिहास तो करते हैं, परिहास में सामने वाले की अलपज्ञता को भी रेखांकित कर देते हैं, परंतु किसी पर कठोर व्यंग्य नहीं करते। चोट पहुँचाने वाली भाषा का प्रयोग करने से वे बचते हैं। इस मामले में वे बेहद संवेदनशील रचनाकार हैं। हालाँकि उनके व्यक्तित्व का यह हिस्सा उनके उपन्यासों में उभरकर आया है। इसके साथ ही द्विवेदी जी अपने निबंध को गरिष्ठ होने से बचाते हैं। गरिष्ठ बातें भी सहज रूप में पाठक के मन मस्तिष्क पर अंकित हो जाए, यह उनका प्रयास रहता है। हालाँकि ऐसा करते हुए वे अर्थ को संकुचित नहीं करते। जो बात उनको कहनी होती है, उसे वे कहते जरूर हैं। भले ही उसके लिए कठिन शब्दावली काम में लेनी पड़े।

बोध प्रश्न

3. निम्नलिखित प्रश्नों के सही उत्तर का चुनाव कीजिए :

   क) हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने किस महापुरुष के संस्थान में नौकरी की–

   1. राजा राम मोहन राय 2. महात्मा गांधी, 3. रवीन्द्रनाथ टैगोर 4. महर्षि अरविंद।

   ख) हजारी प्रसाद द्विवेदी की कौन सी पुस्तक उनका निबंध संग्रह है।

   1. बाण भट्ट की आत्मकथा, 2. कबीर, 3. साहित्य सहचर, 4. अशोक के फूल।

   ग) मनुष्य की सबसे बड़ी आकांक्षा होती है–

   1. अपनी संस्कृति की रक्षा, 2. अपनी जाति का गौरव, 3. देश प्रेम, 4. जिजीविषा

4. निम्नलिखित में से सही कथनों पर (√) और गलत पर (×) का निशान लगाइए :

   क) भारतीय और पाश्चात्य संस्कृति में बुनियादी अंतर है। (सही / गलत)

   . ख) हजारी प्रसाद द्विवेदी को शांति निकेतन से मानद उपाधि प्राप्त हुई। (सही / गलत)

   ग) 'आलोक–पर्व' पर द्विवेदी जी को साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त हुआ। (सही / गलत)

5. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए :

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी के दो निबंध संग्रहों के नाम लिखिए।

   ....

   ....

   ....

2. हजारी प्रसाद द्विवेदी को किन–किन भाषाओं का ज्ञान था? (दो पंक्तियों में)

....

....

3. हजारी प्रसाद द्विवेदी किस संस्कृत कवि को सबसे अधिक पसंद करते थे?

....

....

13.6 सारांश

- हिंदी निबंधों की परंपरा का प्रारंभ भारतेंदु हरिश्चंद्र से होता है।
- प्रारंभिक हिंदी निबंध भारतेंदु युग की विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए।
- हिंदी निबंध साहित्य में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के पश्चात् आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का नाम लिया जाता है।
- आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की आरंभिक शिक्षा गाँव में हुई, बाद में उनका अध्ययन संस्कृत और ज्योतिष में हुआ।
- सन् 1930 में द्विवेदी जी शांतिनिकेतन में हिंदी के अध्यापक हुए। इसके पश्चात् सन् 1950 में काशी हिंदू विश्वविद्यालय, बनारस और कुछ समय के लिए पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ में हिंदी विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष रहे।
- उन्होंने आलोचना, इतिहास, निबंध और उपन्यास साहित्य की रचना की। उन्हें अंग्रेजी, हिंदी, बंगला और संस्कृत भाषा का ज्ञान था।
- उनके निबंधों की मुख्य चिन्ता भारतीय चिन्ताधारा का उद्भव और विकास रेखांकित करना रहा है।
- द्विवेदी जी के अनुसार इतिहास का अध्ययन 'शव साधना' की तरह है।
- "भारतीय संस्कृति सिर्फ आर्य संस्कृति नहीं है। इसके विकास में द्रविड़, कौल, मुण्डा सहित अनेक अज्ञात जातियों का योगदान है।" जिसका उल्लेख द्विवेदी जी अपने निबंधों में करते हैं।
- मानव जाति सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोह में नहीं पड़ती। उसकी सबसे बड़ी कामना है – जिजीविषा।
- इतिहास का यह अध्ययन भविष्य के निर्माण के लिए उपयोगी होता है।
- पेड़–पौधों पर लिखे गए निबंधों में उनकी भावना और विचार प्रकट होते रहते हैं।

13.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. (क) गलत (ख) गलत (ग) सही (घ) गलत
2. (क), (ख) एवं (ग) के उत्तर के लिए 13.3 का अध्ययन ध्यानपूर्वक कीजिए।
3. (क) रवीन्द्रनाथ टैगोर (ख) अशोक के फूल (ग) जिजीविषा
4. (क) सही (ख) सही (ग) सही
5. (1) एवं (2) के उत्तर के लिए 13.5.2 एवं 13.6 देखें।

   (3) कालिदास।

इकाई 14 'कुटज' की अंतर्वस्तु और विश्लेषण

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 'कुटज' का सार

14.3 अंतर्वस्तु

 14.3.1 विचार पक्ष

 14.3.2 भाव पक्ष

14.4 लेखकीय व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति

 14.4.1 मानवीय गरिमा के समर्थक

 14.4.2 पाण्डित्य

 14.4.3 सहजता

 14.4.4 विचारशीलता

 14.4.5 सौंदर्य दृष्टि

14.5 भाषा—शैली

14.6 संदर्भ सहित व्याख्या

14.7 सारांश

14.8 कठिन शब्दों के अर्थ

14.9 बोध प्रश्न के उत्तर

14.0 उद्देश्य

आप इस इकाई में हजारीप्रसाद द्विवेदी जी के निबंध 'कुटज' का अध्ययन और विश्लेषण करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- 'कुटज' निबंध का सार जान सकेंगे;
- 'कुटज' की अंतर्वस्तु का विश्लेषण कर सकेंगे;
- 'कुटज' में अभिव्यक्त लेखक के व्यक्तित्व के बारे में जान सकेंगे और
- 'कुटज' की भाषा—शैली का विवेचन कर सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आपने हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबंध साहित्य की विशेषताओं का अध्ययन किया था। उसी अध्ययन को आगे बढ़ाते हुए इस इकाई में आप 'कुटज' निबंध की अंतर्वस्तु एवं विशेषताओं का अध्ययन करेंगे। इस प्रक्रिया में द्विवेदी जी के निबंधों की विशेषताओं को घटित करते हुए 'कुटज' को समझने का प्रयास करेंगे। इसके लिए हम सबसे पहले 'कुटज' निबंध के प्रस्तावना, सारांश का अध्ययन करेंगे। इसके पश्चात् 'कुटज' की अंतर्वस्तु का विश्लेषण करेंगे, जिसमें निबंध के विचार पक्ष

और भाव पक्ष का अध्ययन शामिल रहेगा। साथ ही निबंध में अभिव्यक्त हजारीप्रसाद द्विवेदी जी के व्यक्तित्व को समझने का प्रयास करेंगे। अंत में निबंध की भाषा–शैली का अध्ययन करेंगे। इस अध्ययन से आप विस्तार से 'कुटज' निबंध के प्रतिपाद्य को जान सकेंगे।

14.2 'कुटज' का सार

कुटज का प्रारंभ द्विवेदी जी पर्वतों के सौन्दर्य से करते हैं और बताते हैं कि पर्वत 'शोभा–निकेतन' होते हैं। पर्वतों में हिमालय तो सबसे सुंदर है ही। कालिदास ने इस हिमालय को देखकर 'समाधिस्थ महादेव' की कल्पना की थी। इसी हिमालय की तलहटी में यह कुटज वृक्ष पाया जाता है। इसके चारों ओर 'नीरस पहाड़ियाँ' हैं। उन्हीं में से यह कुटज वृक्ष रस का अर्थात् जल का स्रोत खोज लेते हैं। इस पर विस्मित होते हुए द्विवेदी जी कुटज के बाह्य रूप–रंग का वर्णन करते हैं। इसी में थोड़ा ठहरकर वे एक दार्शनिक प्रश्न पर विचार करते हैं कि नाम और रूप का क्या रिश्ता होता है और प्रकारांतर से स्थापित कर देते हैं कि नाम रूप की सामाजिक स्वीकृति है। इसी प्रश्न पर विचार करते–करते वे यह जानकारी देते चलते हैं कि कालिदास के ''मेघदूत'' में जब रामगिरि पर यक्ष को मेघ की अभ्यर्थना करनी थी, तब वहाँ और कोई पुष्प नहीं था, इसलिए ''कुटज पुष्पों'' की 'अंजलि' देकर ही संतोष करना पड़ा। अर्थात् यह वृक्ष मेघदूत में कालिदास के काम आया। इस वृक्ष की अवहेलना संस्कृत साहित्य में तो मिलती ही है, रहीम ने भी इसकी अवहेलना की थी।

इसके पश्चात् लेखक 'कुटज' का अर्थ करता है। कुट का अर्थ 'घड़ा' होता है। अब यह पेड़ घड़े से कैसे पैदा हुआ होगा। फिर वे अपने पाठकों को यह जानकारी भी दे देते हैं कि ''प्रतापी अगस्त्य मुनि भी 'कुटज' कहे'' जाते हैं। फिर इस कुट शब्द से कुटकारिका, कुटहारिका, कुटनी, कुट्टनी आदि शब्दों का महात्म्य बताते चलते हैं। आगे चलकर द्विवेदी जी इस तथ्य की जानकारी भी देते हैं कि कुटज शब्द आर्य जाति का तो नहीं जान पड़ता। इसी प्रक्रिया में वे ''आस्ट्रो–एशियाटिक'' भाषा परिवार की चर्चा में पाठक को ले जाते हैं और बताते हैं कि कैसे एशिया और आस्ट्रेलिया भूखण्ड पहले मिले हुए थे, बाद में प्राकृतिक प्रकोप से अलग–अलग हो गए। इसी बीच में वे यह भी जानकारी पाठक को देते जाते हैं कि संस्कृत में अनेक भाषाओं का मिश्रण है और यह भी कि भारतीय संस्कृति भी मिश्रित संस्कृति है, शुद्ध आर्य संस्कृति नहीं हैं। इस विषय पर उन्होंने 'अशोक के फूल' निबंध में विस्तार से लिखा भी है। यहाँ सिर्फ प्रासंगिक जानकारी दे दी गई है। इसके बाद द्विवेदी जी कुटज की जीवनी शक्ति का, उसके वैभव का वर्णन करते हैं और समाज, मनुष्य और जीवन पर कई सूत्र वाक्य कहते जाते हैं। अंत में वे इस निष्कर्ष पर निबंध को समाप्त करते हैं कि ''कुटज अपने मन पर सवारी करता है, मन को अपने पर सवार नहीं होने देता। मनस्वी मित्र, तुम धन्य हो!''

14.3 अंतर्वस्तु

निबंध में दो तत्व होते हैं–विचार और भाव। इनमें से निबंध में किसी एक तत्व की प्रधानता होती है, परन्तु दूसरा तत्व भी होता अवश्य है। 'कुटज' में भाव और विचार दोनों का सामंजस्य है। विचार को अभिव्यक्त करते हुए द्विवेदी जी अपने मन की बातें

भी कहते जाते हैं। अपना पक्ष भी रखते जाते हैं। इस तरह निबंध के प्रकरणों में अपनी वैचारिक–भावात्मक टिप्पणी भी करते जाते हैं।

14.3.1 विचार पक्ष

कुटज के आरंभ में द्विवेदी जी हिमालय के सौन्दर्य का वर्णन करते हैं। फिर वे कालिदास के कथन को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि ''हिमालय पृथ्वी का मानदंड'' है। यह मत कालिदास ने 'कुमार संभवम्' में अभिव्यक्त किया है। हिमालय का गहरा संबंध भारत के इतिहास और संस्कृति से है। अतः द्विवेदी जी मुग्ध भाव से हिमालय का उल्लेख करते हैं। यहीं पर शिवालिक की पहाड़ियाँ हैं। शिवालिक का अर्थ करते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं, ''शिवालिक या शिव की जटा जूट का निचला हिस्सा'' ही तो है। इस पहाड़ी की ''सूखी, नीरस और कठोर'' भूमि को देखकर द्विवेदी जी यह कल्पना करते हैं। उनसे भी पहले कालिदास ने भी ऐसी कल्पना की थी। यहाँ पर द्विवेदी जी तथ्यात्मक विवरण प्रधान पंक्तियाँ लिखते हैं। यदि हिमालय समाधिस्थ महादेव की प्रतिमा है, जैसा कालिदास ने लिखा है तो ''उसी समाधिस्थ महादेव के अलक–जाल के निचले हिस्से का प्रतिनिधित्व यह गिरि–शृंखला कर रही होगी। कहीं–कहीं अज्ञात नाम–गोत्र, झाड़–झंखाड़ और बेहया से पेड़ खड़े दिख अवश्य जाते हैं, पर और कोई हरियाली नही।'' यह वह स्थान है, जहाँ इतना सूखा है कि दूब भी सूख गई है। इतने सूखे में पानी कहाँ से आता है। यहाँ पर जो यह ठिंगना–सा पेड़ दिखाई दे रहा है। यही तो कुटज है। भूख–प्यास की चोट से और गरमी से बेहाल होते हुए भी ये पेड़ जी रहे हैं। न केवल जी रहे हैं, वरन् आनंदमग्न है।

इस विवरण के बाद द्विवेदी जी की भावुकता सक्रिय होती है और फिर उनके मन में विचार आता है। जो पेड़ इतने अभाव में भी खुश हैं क्या वे 'बेहया' हैं या 'मस्त मौला'! दोनों विपरीतार्थक शब्द हैं। इन वृक्षों के लिए आप किसी भी शब्द का प्रयोग कर सकते हैं। यहाँ द्विवेदी जी कुटज से छिटककर मानव जीवन पर आ जाते हैं और टिप्पणी करते हैं कि जो लोग 'बेहया' देखते हैं, दरअसल वे ''बेहया'' होते नहीं। उनके भीतर भी रस का कोई स्रोत होता है। ''हया'' का संबंध तो दूसरे से होता है और ये तो दूसरे की सत्ता को मानते ही नहीं। उसे चुनौती देते हैं और मस्त रहते हैं। उन्हें हम 'बेहया' कैसे कहें! उन्हें मस्तमौला भी तो कह सकते हैं। यहाँ द्विवेदी जी उन मनुष्यों पर टिप्पणी करते हैं जो बिना किसी को ठीक से जाने, किसी पर झट से मूल्य निर्णय दे देते हैं। यह मूल्य निर्णय ठीक नहीं है। जरा फुर्सत से उनकी जीवन गाथा को जानकर, समझ–बूझकर टिप्पणी करना चाहिए। ऐसा द्विवेदी जी कहते नहीं, ऐसा उनके कथन से संकेतित हो जाता है। वैसे भी द्विवेदी जी कुछ भी कहने से बचते हैं। उन्हें अपने नायक (कुटज) का पक्ष रखना है, लेकिन उस नायक पर अनुचित टिप्पणी करने वालों पर कोई टिप्पणी नहीं करनी है। इसके बाद द्विवेदी जी एक दार्शनिक–सा वक्तव्य देकर इस प्रकरण को बंद करते हैं– ''कभी–कभी जो लोग ऊपर से बेहया दिखते हैं, उनकी जड़ें काफी गहरे पैठ रहती है। ये भी पाषाण की छाती फाड़कर न जाने किस अतर गह्वर से अपना भोग्य खींच लाते हैं।'' बाहर से इस सूखी धरती पर यह कुटज हरा–भरा कैसे है ? इस सूखी, पथरीली जमीन में पानी कहीं दिखाई नहीं दे रहा है। कुटज के इस प्रस्तुत विधान का अप्रस्तुत 'मनुष्य' है। यह एक खास तरह का मनुष्य है, जिसे दुनिया 'बेहया' कहती है। ऐसे लोगों को भी कहीं न कहीं से सामाजिक स्वीकृति मिलती है। उसके जीवन में भी कुछ चीजें होगी, जो उसके लिए खाद–पानी का काम करती होंगी। वह क्या है ? इस प्रश्न को द्विवेदी जी अनुत्तरित

छोड़ देते हैं। सामान्यतः लोग इस प्रश्न का उत्तर नहीं जान पाते। वे स्वयं भी अपना सच कहाँ अभिव्यक्त कर पाते हैं।

जहाँ पर यह ''कुटज'' है, वहाँ यह अकेला नहीं है। और भी कई पेड़ हैं, जिन्हें लेखक नहीं जानता। उनके 'शील' को नहीं जानता। इन्हीं पेड़ों के बीच फूलों से लदा हुआ यह ''अलमस्त'' पेड़ है– कुटज। यह ''उजाड़ का साथी'' है। यहाँ कोई फलदार पेड़ नहीं है। ऐसी जगहों सिर्फ झाड़–झंखाड़ है। पर यह पेड़ आत्मीयता से भर देता है। यह आत्मीयता लेखक में भी आ गई है।

जब पहली बार यह वृक्ष दिखा तो लेखक को नाम नहीं सूझा, फिर एकाएक मन में कौंधा कि यह तो कुटज है। ''संस्कृत साहित्य का बहुत परिचित, किन्तु कवियों द्वारा अवमानित, यह छोटा–सा शानदार वृक्ष 'कुटज' है।'' द्विवेदी जी उस असमंजस की स्थिति का वर्णन करते हैं, जिसमें ''पहचान तो जाता हूँ, परन्तु नाम याद नहीं आ रहा'' की मानसिकता होती है। इसके बाद वे इस दार्शनिक विवाद का संकेत करके आगे बढ़ जाते हैं कि नाम बड़ा या रूप, पद प्रमुख है या पदार्थ ? इस विवाद का समाहार करते हुए वे कहते हैं कि नाम इसलिए बड़ा नहीं है कि वह नाम है। नाम को सामाजिक स्वीकृति मिलती है। नाम से हम उस व्यक्ति या वस्तु को पहचानते हैं। इसलिए नाम महत्वपूर्ण है। इसीलिए विद्वान भी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नाम और रूप के सामंजस्य से हमें ज्ञान मिलता है। हम वस्तुओं या व्यक्तियों को उनके नाम से पहचानते हैं।

आगे चलकर द्विवेदी जी थोड़ा परिहास में चले जाते हैं और कई तरह के सौंदर्यसूचक या पौरुष व्यंजक नामों का उल्लेख करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ''रूप व्यक्ति सत्य है, नाम समाज सत्य''। समाज जिसको कुटज कहता है, वह कुटज है, वह रजनीगंधा नहीं है। दोनों का रूप अलग है, इसलिए उनका नाम भी अलग है। इसे अपने ढंग से वे 'गिरिकूट–बिहारी' भी कहते हैं। इससे पाठक को एहसास होता है कि द्विवेदी जी का संस्कृत साहित्य से कितना गहरा परिचय है। वे कहते हैं कि कुटज संस्कृत साहित्य का बहुत परिचित ''शानदार वृक्ष'' है। हालाँकि यह ''कवियों द्वारा अवमानित'' है। इसकी प्रशंसा में नहीं लिखा गया है। आगे वे अपने प्रिय कवि कालिदास का उल्लेख करते हैं। कालिदास ने ''मेघदूत'' में इसका वर्णन किया है। यक्ष का दूत बनकर मेघ जब रामगिरी पर्वत पर पहुँचता है, तब मेघ की अभ्यर्थना देने के लिए यक्ष को कुटज के पुष्पों की अंजलि देकर ही संतोष करना पड़ा। यहाँ और कोई पुष्प उपलब्ध ही नहीं था तो यह ''गाढ़े का साथी'' ही तो हुआ। उस समय यक्ष के काम आया। जो पुष्प कालिदास के काम आया उसको ज्यादा इज्जत मिलनी चाहिए थी, परन्तु नहीं मिली। इसी प्रकरण में द्विवेदी जी ने रहीम के एक दोहे को भी उद्धृत किया, जिसमें कुटज के प्रति वही अवमानना का भाव था। यह अवमानना तो रहीम को भी झेलनी पड़ी थी। रहीम का कुटज पर आरोप था कि कुटज से छाया नहीं मिलती। द्विवेदी जी इस बिंदु पर टिप्पणी करते हैं कि छाया न सही, फूल तो मिलते हैं।

कुटज का अर्थ करते हुए कहते हैं कि कुट घड़े को कहते हैं और घर को भी। घर में काम करने वाली दासी कुटकारिका और कुटहारिका कही जाती है। अब कुटज घड़े में तो पैदा नहीं होता। इतने सारे संदर्भों के बीच द्विवेदी जी इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि कुटज आया कहाँ से। यह पेड़ और इस पेड़ का नाम कहाँ से आया ? फिर द्विवेदी जी संदेह प्रकट करते हुए कहते हैं कि यह आर्य भाषाओं का शब्द नहीं है।

इसके बाद भाषा वैज्ञानिक सिलवाँ लेवी को स्मरण करते हैं। उनका मत है कि संस्कृत भाषा में फूलों, वृक्षों और खेती बागवानी के अधिकांश शब्द आग्नेय भाषा–परिवार के हैं। फिर वे एक भौगोलिक इतिहास की जानकारी देते हैं कि किसी समय आस्ट्रेलिया और एशिया महाद्वीप मिले हुए थे। फिर कुछ भयंकर प्राकृतिक विस्फोट हुआ और दोनों महाद्वीप अलग–अलग हो गए। इस कारण आस्ट्रेलिया के सुदूर जंगलों में बसी हुई जातियों की भाषा एशिया की भाषा से मिलती जुलती है। इसीलिए भारतीय भाषाओं का ''आस्ट्रो ऐशियाटिक'' परिवार भी है। फिर द्विवेदी जी अपनी पुरानी स्थापना को दोहराते हैं कि संस्कृत भाषा में अनेक बाहरी शब्द आ गए हैं जो अब भारतीय संस्कृति के अविच्छेद अंग बन गए हैं– कमल, कुड़मल, कंबु, तांबूल आदि। जब इतने सारे शब्द आ गए हैं तो कुटज भी तो आ सकता है।

निबंध में द्विवेदी जी कुटज की ''अपराजेय जीवनी शक्ति'' की प्रशंसा करते हुए स्पष्ट करते हैं कि यह जीवनी शक्ति नाम और रूप दोनों में है। बरसों से कुटज शब्द बना हुआ है। उसका नाम परिवर्तित नहीं हुआ है, रूप भी बना हुआ है। मुरझाकर खत्म नहीं हुआ है। वैसे भी द्विवेदी जी मानते हैं कि संस्कृत के शब्द 'स्फीय मान' है। विकसित होते रहते हैं, बदलते रहते हैं। इस सबके बीच कुटज यथावत रूप में बना हुआ है और यह बड़ी बात है। सूखी, नीरस और कठोर भूमि पर यह स्थित है।

आगे द्विवेदी जी अपने विषय का विस्तार करते हुए कहते हैं कि जीवन भी एक कला है, कला ही नहीं तपस्या है। उनका मत है कि जिंदा रहना बहुत बड़ी बात है। मनुष्य की जिजीविषा बड़ी चीज है और यह जिजीविषा कुटज में दिखाई देती हैं। यहाँ वे याज्ञवल्क्य का उदाहरण देते हैं। वे कहते हैं कि सब कुछ स्वार्थ के लिए है, तब क्या संसार में प्रेम का, सेवा का, देशभक्ति का कोई मूल्य नहीं है। वे हाब्स और हेल्वेशियस का मत भी सामने रखते हैं। पूरी बहस के बाद वे पुनः इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि स्वार्थ से भी बड़ी कोई चीज है, परन्तु वह क्या है ? इस प्रश्न को भी वे अनुत्तरित छोड़ देते हैं। ''अशोक के फूल'' निबंध में अभिव्यक्त विचारों को आगे बढ़ाते हुए आचार्य द्विवेदी कहते हैं कि सिर्फ स्वार्थ के लिए जीना खंडित सत्य है। सिर्फ जीना नहीं, गरिमा के साथ जीना बड़ी बात है। भले ही कुटज नीति और धर्म की बातें नहीं करता, परन्तु किसी की चापलूसी नहीं करता। अपनी उन्नति के लिए नीलम (रत्न) धारण नहीं करता। इसका हृदय कितना विशाल है। वह सुख से, दुख से, प्रिय से, अप्रिय से, किसी से विचलित नहीं होता। द्विवेदी जी सोचते हैं कि उसे यह दृष्टि कहाँ से मिली। अपनी समझ को सूत्रबद्ध करते हुए वे लिखते हैं कि जो समझता है कि वह दूसरों को उपकार कर रहा है वह अबोध है, ''जो समझता है कि दूसरे उसका अपकार कर रहे हैं वह भी बुद्धिहीन है। कौन किसका उपकार करता है, कौन किसका अपकार कर रहा है ? मनुष्य जी रहा है, केवल जी रहा है। अपनी इच्छा से नहीं, इतिहास विधाता की योजना के अनुसार।'' अपने आपको इतिहास विधाता के भरोसे छोड़ देना, यह बड़ी बात है। कुटज यही तो कर रहा है। सुख और दुख पहुँचाने का अभिमान ही गलत है। फिर वे आगे कहते हैं, असल में सुख या दुख तो कुछ होता ही नहीं। यह तो मन का विकल्प है। हम मानते हैं तो सुख है, न मानें तो दुख है। इसलिए सुखी वह है जिसने अपने मन को अपने नियंत्रण में कर लिया है। वह अपने मन को कह देता है कि सुखी रह। मन उसका कहना मान लेता है और वह सुखी है। जिसका अपना मन ही अपने वश में नहीं है, दूसरे के वश में है, उसे कोई भी दूसरा व्यक्ति कभी भी दुखी कर सकता है। यदि हम दूसरों के वश में होते हैं, तभी दूसरों की जी–हजूरी करते हैं। चापलूसी करते हैं। किसी से कुछ माँगते हैं। अन्यथा हमें

किसी से क्या चाहिए ? और क्यों चाहिए? उनका मानना है कि दूसरों को फँसाने के लिए जो जाल बिछाता है, वह न तो स्वयं सुखी है, न दूसरों को सुख पहुँचा सकता है।

कुटज इन सब मिथ्याचारों से मुक्त है। इसलिए वह ''वशी'' है। उसने अपने मन को वश में कर रखा है। कुटज अपने मन पर सवारी करता है। इसलिए इतने कष्टों और अभावों के बावजूद वह मुस्करा रहा है। वह मुर्झाया हुआ नहीं है। कुटज के इस गुण के कारण द्विवेदी जी इस निबंध के समापन में कहते हैं कि ''मनस्वी मित्र, तुम धन्य हो''। और यही इस निबंध का सार तत्व है।

कथ्य में अभिव्यक्त मूल बिंदु–

- पर्वत ''शोभा–निकेतन'' होते हैं फिर हिमालय तो पृथ्वी का मानदंड है।
- कालिदास ने हिमालय को देखकर 'समाधिस्थ महादेव' की कल्पना की थी।
- इस हिमालय की तलहटी में शिवालिक की 'सूखी, नीरस और कठोर' भूमि पर कुटज पाया जाता है।
- इतने अभावों में कुटज मुस्करा रहा है, क्या वह 'बेहया' है या 'मस्तमौला ?
- वह ''अलमस्त पेड़'' है और ''उजाड़ का साथी'' है।
- 'मेघदूत' में मेघ यक्ष का संदेश लेकर रामगिरि पर्वत पर पहुँचता है तो उसकी अभ्यर्चना कुटज के पुष्पों से की जाती है।
- यह संस्कृत साहित्य का अत्यंत परिचित और अवमानित पेड़ है। हिंदी में रहीम ने भी इसी अवमानना भाव से कुटज का वर्णन किया है।
- नाम और रूप के दार्शनिक विवाद में द्विवेदी जी कहते हैं कि रूप ''व्यक्ति सत्य'' है, जबकि नाम ''समाज सत्य'' है। नाम और रूप के सामंजस्य से ज्ञान प्राप्त होता है।
- **'कुटज'** आर्यभाषाओं का शब्द नहीं है। संस्कृत में अनेक भाषाओं के शब्द घुल–मिल गए हैं। इसी तरह भारतीय संस्कृति में भी अनेक जातियों की संस्कृति का मिश्रण है।
- कुटज में अपराजेय जीवनी शक्ति है।
- सुख और दुःख तो मन के विकल्प है। कुटज इतने अभावों के बीच मस्तमौला बना हुआ है। जो सुख और दुःख से परे हो, उसी का जीवन सार्थक है।

बोध प्रश्न

1. निम्नलिखित में से सही कथनों पर (√) तथा गलत पर (×) का निशान लगाइए–

   क. कुटज हिमालय की तलहटी में पाया जाने वाला वृक्ष है। (सही / गलत)

   ख. प्रतापी अगस्त्य मुनि को कभी 'कुटज' नाम से संबोधित नहीं किया गया है। (सही / गलत)

   ग. सुख और दुख मन का विकल्प हैं। (सही / गलत)

   घ. कुटज हर समय मुर्झाया रहता है। (सही / गलत)

2. हिमालय को समाधिस्थ महादेव की उपमा किस लेखक ने दी थी ?

....

3. मेघ को कुटज के पुष्प देकर अभ्यर्थना की गई थी। इसका उल्लेख किस रचना में मिलता है।

....

....

4. याज्ञवल्क्य ने मानव जीवन का उद्देश्य क्या बताया है ?

....

....

14.3.2 भाव पक्ष

जिस तरह से आचार्य रामचंद्र शुक्ल के निबंध विचार प्रधान माने जो हैं, उस तरह से आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबंध ने तो विचार प्रधान है और न भाव प्रधान। उनके निबंधों में विचार और भाव परस्पर गूंथे हुए आते हैं। उन्हें अलग करके यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि कुटज का अमुक प्रकरण भाव प्रधान है या विषय प्रधान। जहाँ पर द्विवेदी जी सिर्फ जानकारी दे रहे होते हैं, उन अंशों को आप चाहें तो विचार–प्रधान गद्य की श्रेणी रख सकते हैं।

आश्चर्य और जिज्ञासा

इस निबंध में द्विवेदी जी बार–बार पाठकों की जिज्ञासा को आमंत्रित करते हैं। फिर पाठक को आश्चर्यचकित भी करते जाते हैं। उदाहरण के लिए ''हिमालय को पृथ्वी का मानदंड'' कहा गया है, परन्तु यह सीधा तथ्य कथन नहीं है। इसे प्रश्न वाचक रूप में बना दिया है कि गलत क्यों है ? अर्थात् यह कहा जाना सही है, ऐसा सीधा वाक्य उन्होंने नहीं लिखा। इसी तरह 'कुटज' के भौगोलिक परिवेश का वर्णन करते हुए वे फिर प्रश्न उठा देते हैं कि ये पेड़ अपना भोज्य कहाँ से निकालते हैं, इनकी जड़ों को पानी कहाँ से मिलता है ? यह अनुत्तरित प्रश्न प्रकृति के प्रति पाठक की सहज संवेदना को जाग्रत कर देता है। यह सिर्फ जानकारी या विचार का प्रश्न नहीं है। यह संवेदनात्मक प्रश्न है। फिर जब वे गंभीर दार्शनिक प्रश्न पाठक के समक्ष रखते हैं तब भी यह प्रश्नाकुलता बनी रहती है कि ''कुटज'' 'बेहया' है या 'मस्तमौला' ? इन दोनों में से क्या कहा जाए ? द्विवेदी जी की संवेदना कुटज और ऐसे लोगों के साथ है, जो हैं तो 'मस्तमौला', लेकिन समाज जिन्हें 'बेह्या' कहकर अवमानित करता है। यह भाव प्रणवता 'कुटज' निबंध में आद्योपांत देखने को मिलती है।

निबंध के अंत में वे दुःख और सुख का विवेचन करते हैं और कहते हैं कि दुःख और सुख तो मन के विकल्प हैं। यहाँ इस स्थिति का विवेचन करते हुए मानव जीवन का उदाहरण देते हैं– ''परवश का अर्थ है, खुशामद करना'', दाँत निपोरना, चाटुकारिता, हाँ–हजूरी करना जिसका मन अपने वश में नहीं है वह दूसरे के मन का छंदावर्तन करता है, अपने को छिपाने के लिए मिथ्या आडंबर रचता है, दूसरों को फंसाने के लिए जाल बिछाता है।'' मानवीय जीवन के ये बिम्ब वैचारिक गद्य की श्रेणी में नहीं आएँगे। ये सब भाव– प्रवण बिम्ब हैं। परवश लोगों के जीवन पर भावात्मक टिप्पणी है। टिप्पणी के पीछे लेखक का आक्रोश है। भावात्मक स्थिति में लेखक केवल तटस्थ

विवेचन नहीं करता अपितु अपना पक्ष भी रखता है। ऐसे बिम्बों के कारण 'कुटज' निबंध भावात्मक निबंध की श्रेणी में आ जाता है।

'कुटज' में द्विवेदी जी जब नाम और रूप के प्रश्न पर विचार करते हैं, तब शुद्ध दार्शनिक समस्या को पहले विचार के स्तर पर ले आते हैं और फिर कुटज के नाम और रूप पर आह्लादित होते हैं। इस बात पर भी प्रसन्न होते हैं कि ''कुटज'' का नाम और रूप दोनों बचे हुए हैं। वे प्रकारांतर से उनको भी याद कर लेते हैं जिनको ''दुनिया भूल गई और वे दुनिया को भूल गए।'' शब्द की एक व्याकरणिक जानकारी को द्विवेदी जी आह्लाद में रूपांतरित कर देते हैं। इस पर विचार करते–करते वे ठहर जाते हैं, कुछ और कहने लग जाते हैं। विचार की दृष्टि से यह विचलन है, लेकिन भाव पक्ष की दृष्टि से अत्यंत राग–रंजित है। निबंध की पठनीयता भाव से बढ़ती है। विचार अंततः जानकारी में सिमट कर रह जाते हैं। भाव ही पाठक के हृदय में पैठ जमा लेते हैं।

'कुटज' के जीवन का मर्मस्पर्शी वर्णन करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा, ''वह दूसरों के द्वार पर भीख माँगने नहीं जाता। नीति और धर्म का उपदेश नहीं देता फिरता, अपनी उन्नति के लिए अफसरों का जूता नहीं चाटता फिरता, दूसरों को अपमानित करने के लिए ग्रहों की खुशामद नहीं करता, आत्मोन्नति के हेतु नीलम नहीं धारण करता, अंगूठियों की लड़ी नहीं पहनता, दाँत नहीं निपोरता, बगलें नहीं झाँकता''। इस पूरे उद्धरण में द्विवेदी जी का व्यंग्य बहुत प्रभावशाली है। यह व्यंग्य सिर्फ वैचारिक नहीं है, वरन् संवेदनात्मक है। इसमें वे अपने आपको भी अभिव्यक्त करते हैं और इस टिप्पणी के माध्यम से परवश और चाटुकारों के प्रति उनके विरोध और आक्रोश की अभिव्यक्ति भी होती है। यह व्यंग्य तिलमिलाने वाला व्यंग्य है जो भीतर तक आघात कर सकता है। विद्वत्ता के बीच कभी परिहास, कभी शुद्ध हास्य और कभी कठोर व्यंग्य द्विवेदी जी के निबंधों की अपनी विशेषता है।

14.4 लेखकीय व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति

कोई भी लेखन तब तक साहित्य की श्रेणी में नहीं आता है, जब तक उसमें लेखक का व्यक्तित्व अभिव्यक्ति दृष्टिगत नहीं होती। आप पेड़, चिड़िया या किसी वस्तु पर लिखते हैं और सिर्फ वहीं तक अपने आपको सीमित रखते हैं तो वह लेखन लेख हो सकेगा, निबंध नहीं। निबंध तभी बनेगा जब लेखक का व्यक्तित्व उसमें से झाँकने लगेगा। लेखक अपनी भावनाओं और विचारों की अभिव्यक्ति करेगा। यह साहित्य की अनिवार्यता है, जो कुटज में भी देखने को मिलती है।

विचारात्मक निबंध में तो फिर भी लेखक का व्यक्तित्व कम दिखाई देता है, परन्तु भावनात्मक और व्यक्ति प्रधान निबंधों में तो लेखक का व्यक्तित्व ही महत्वपूर्ण होता है। वही उस विषय विशेष को नियोजित करता है। 'कुटज' निबंध का आधा हिस्सा कुटज के बारे में हैं और आधा हिस्सा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी के व्यक्तित्व के बारे में है। कुछ बातें वे स्वयं कहते हैं। स्वयं अपने विचारों और भावों की अभिव्यक्ति करते हैं। कुछ बातें स्वतः ही अभिव्यक्त होती जाती हैं। लेखक को इसका प्रयास करना नहीं पड़ता। पाठक को स्वतः पता चल जाता है। पाठक एक ओर विषय को पढ़ता है, कुटज को पढ़ता है, दूसरी तरफ हजारीप्रसाद द्विवेदी जी की दृष्टि को पढ़ता है, जो कुटज के वर्णन में स्वतः अभिव्यक्त होती रहती है। इस दृष्टि से देखें

तो कुटज में भी उनके व्यक्तित्व का कुछ हिस्सा अभिव्यक्त होता गया है। उन बिन्दुओं का विवेचन यहाँ किया जा रहा है :

14.4.1 मानवीय गरिमा के समर्थक

कुटज में हजारीप्रसाद द्विवेदी जी मनुष्य की गरिमा के समर्थक के रूप में दिखाई देते हैं। जब वे कुटज के संघर्ष, उसकी जिजीविषा, उसकी बेपरवाही, उसका मस्तमौला स्वभाव, दिखाते हैं तो हमें उसमें द्विवेदी जी का एक रूप भी दिखाई देता है। वे चापलूसी का, हाँ–हजूरी का समर्थन नहीं करते। वे एक ऐसे व्यक्ति को पसंद करते हैं जो सुख और दुख दोनों से परे है। अपने में मस्त, अपने मन का मालिक। जो किसी की भी गुलामी पसंद नहीं करता, चाहे वह अपना मन ही क्यों न हो– ''कुटज क्या केवल जी रहा है। वह दूसरे के द्वार पर भीख माँगने नहीं जाता, कोई निकट आ गया तो भय के मारे अधमरा नहीं हो जाता, नीति और धर्म का उपदेश नहीं देता फिरता, अपनी उन्नति के लिए अफसरों का जूता नहीं चाटता फिरता, दूसरों को अवमानित करने के लिए ग्रहों की खुशामद नहीं करता। आत्मोन्नति हेतु नीलम नहीं धारण करता, अँगूठियों की लड़ी नहीं पहनता, दाँत नहीं निपोरता, बगलें नहीं झाँकता। जीता है और शान से जीता है– काहे वास्ते, किस उद्देश्य से ? कोई नहीं जानता। मगर कुछ बड़ी बात है। स्वार्थ के दायरे से बाहर की बात है।'' स्वतंत्रता की यह आकांक्षा कुटज के साथ–साथ द्विवेदी जी की अपनी काम्य विशेषता भी है।

14.4.2 पाण्डित्य

हजारी प्रसाद द्विवेदी के संपूर्ण लेखन में उनके पाण्डित्य की छाप दिखाई देती है। वे प्राचीन भारतीय साहित्य, संस्कृति और विचार प्रणाली के जानकार हैं। न केवल जानकार हैं, वरन् उसके रचनात्मक उपयोग करने की कला भी उनमें है। इसलिए वे आवश्यकतानुसार कालिदास को उद्धृत कर देते हैं। वे चर्चा करते–करते अनायास ही यह बता देते हैं कि कुटज संस्कृत साहित्य का परिचित वृक्ष है, परन्तु उसे वांछित गौरव नहीं मिला है। वे यह भी बता देते हैं कि ''मेघदूत'' में जब मेघ रामगिरि पहुँचता है, तब कुटज के पुष्पों से उसकी अभ्यर्थना की गई थी। संस्कृत साहित्य में से इस प्रकरण को खोजकर यहाँ प्रस्तुत करना उनके पाण्डित्य का प्रमाण है। आगे वे रहीम का दोहा उद्धृत कर देते हैं, जिसमें कुटज का उल्लेख मिलता है। इसी क्रम में वे याज्ञवल्क्य को उद्धृत करते हैं। 'कुटज' में वे ऐसे अनेक संकेत और संदर्भ देते हैं, जिनसे उनकी विद्वत्ता और भारतीय संस्कृति के प्रति लगाव और जुड़ाव की जानकारी पाठक को होती है।

14.4.3 सहजता

पाण्डित्य के साथ सहजता द्विवेदी जी के व्यक्तित्व की अनूठी विशेषता है। ''कुटज'' सिर्फ संस्कृत विद्वानों को संबोधित निबंध नहीं है। यह उन सामान्य हिंदी पाठकों को संबोधित है, जिन्होंने कालिदास, याज्ञवल्क्य को नहीं पढ़ा और नहीं जाना। उन्हें वे सहजता से सारी जानकारी दे देते हैं। यह जानकारी देकर वे इस पाठक को मानवीय बनाने की कोशिश करते हैं। विद्वत्ता का अहंकार द्विवेजी जी में नहीं है। इसलिए 'कुटज' के इन प्रकरणों को पढ़कर भी पाठक आत्महीनता की स्थिति में नहीं आता। वह इन सबको पढ़कर अपने आपको समृद्ध महसूस करता है और यही इस निबंध का उद्देश्य भी है।

14.4.4 विचारशीलता

कुटज में हमें द्विवेदी जी की विचारशीलता के दर्शन होते हैं। साथ ही वे अपने पाठक को भी गहन विचार–विमर्श के लिए आमंत्रित करते हैं। 'कुटज' के बारे में सोचते हुए वे मानव जीवन के बारे में बड़ी मार्मिक बातें कहते जाते हैं। वे इस दार्शनिक निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सुख और दुख तो मन के विकल्प हैं। जो अपने मन पर विजय प्राप्त कर लेता है, वही 'वशी' है– ''दुख और सुख तो मन के विकल्प हैं। सुखी वह है जिसका मन वश में है, दुखी वह है जिसका मन परवश है। परवश होने का अर्थ है खुशामद करना, दाँत निपोरना, चाटुकारिता, हाँ–हजूरी। जिसका मन अपने वश में नहीं है वही दूसरे के मन का छंदावर्तन करता है, अपने को छिपाने के लिए मिथ्या आडम्बर रचता है, दूसरों को फँसाने के लिए जाल बिछाता है। कुटज इन सब मिथ्याचारों से मुक्त है। वह वशी है। वह वैरागी है।'' यहाँ आचार्य द्विवेदी का यह मानना है कि ऐसी मानसिकता (कुटज के समान) रखने वाला व्यक्ति सुखी है। यह भारतीय चिंताधारा की अपनी समझ है।

14.4.5 सौंदर्य दृष्टि

हजारी प्रसाद द्विवेदी जी प्रकृति को बहुत ही मुग्ध भाव से देखते हैं। वे सिर्फ कोमल और मासूम वस्तुओं पर ही मुग्ध नहीं होते, झाड़–झंखाड़ के सौंदर्य को भी वे इसी दृष्टि से प्रस्तुत करते हैं। तभी तो उन्हें कुटज और कुटज का परिवेश अद्भुत लगता है– ''इन्हीं में एक छोटा–सा बहुत ही ठिगना–पेड़ है, पत्ते चौड़े भी हैं, बड़े भी हैं। फूलों से तो ऐसा लदा है कि कुछ पूछिए नहीं। अजीब–सी अदा है, मुस्कराता जान पड़ता है। लगता है, पूछ रहा है कि क्या तुम मुझे भी नहीं पहचानते ? पहचानता तो हूँ, अवश्य पहचानता हूँ। लगता है, बहुत बार देख चुका हूँ। पहचानता हूँ उजाड़ के साथी, तुम्हें अच्छी तरह पहचानता हूँ।'' निबंध में द्विवेदी जी उन बातों की आलोचना करते हैं, जो मनुष्य के सौंदर्य को कमतर करती है। यह सौंदर्य दृष्टि समष्टिपरक है। अपने से बाहर, अपने से इतर चीजों में भी वे सौंदर्य खोज लेते हैं।

14.5 भाषा–शैली

'कुटज' संवादधर्मी निबंध है। इसका प्रारंभ ही एक संवाद से होता है। द्विवेदी जी कभी पाठक से संवाद करते हैं, कभी स्वयं से संवाद करते हैं। वे पाठक को कुछ–कुछ बताते जाते हैं। वे कुछ ऐसा बताते जाते हैं, जैसा पाठक की जानकारी में कभी नहीं रहा है। इस प्रक्रिया में पाठक के ज्ञान का और समझ का विस्तार होता जाता है। कभी–कभी ऐसा भी लगता है मानो द्विवेदी जी अपने पाठक के अज्ञान का आनन्द ले रहे हैं। ऐसा आनंद लेते हुए भी पाठक के मन में हीनता–ग्रंथि उत्पन्न नहीं होती। उसे लगता रहता है कि इस निबंध को पढ़कर मैं समृद्ध हुआ हूँ। वे गंभीर बातें इतनी सहजता से कहते हैं, जिससे आश्चर्यमय आनंद की सृष्टि होती रहती है। कभी–कभी पाठक को आश्वस्त करने के लिए, उसके आत्मविश्वास को बनाए रखने के लिए वे यह तर्क भी देते जाते हैं कि उन्हें कुछ बातों का पता नहीं है। जानकारी न होना कोई इतना बड़ा दोष नहीं है। वे पाठक को इसी प्रवाह में यह भी बताते चलते हैं कि पाठक ही नादान नहीं है, कुछ मामलों में लेखक भी नादान है। हिमालय की तलहटी में कुटज के आसपास कितने ही झाड़–झंखाड़ हैं जिनका नाम द्विवेदी जी को पता नहीं है और इसे वे ईमानदारी से स्वीकार करते हैं।

इस संवाद शैली से निबंध की संप्रेषणीयता बढ़ जाती है। इसी तरह द्विवेदी जी निबंध में कहीं–कहीं प्रश्न पूछकर पाठक को चिंतन के लिए आमंत्रित करते हैं। कभी स्वयं ही उसका जवाब दे देते हैं। कहीं उस प्रश्न को अनुत्तरित छोड़ देते हैं। कई बार अनिश्चित उत्तर की तरफ संकेत कर देते हैं। इससे संभावना बची रहती है, ताकि पाठक कल्पना कर सके। साथ ही, वह वैचारिक रूप से सक्रिय भी हो जाए।

निबंध की एक विशेषता यह भी होती है कि उसमें लेखक सीधे पाठक से जुड़ जाता है। कहानी में लेखक और पाठक के बीच में कहानी होती है। पात्र होते हैं। निबंध में लेखक और पाठक के बीच कोई नहीं होता। द्विवेदी जी के निबंधों की शैली व्यक्ति प्रधान है। 'कुटज' में कुटज तो होता ही है, स्वयं लेखक भी होता है। जिस प्रकरण के संदर्भ में विचार करने की लेखक की इच्छा होती है, मन होता है, द्विवेदी जी उस प्रकरण का जिक्र कर देते हैं। विषय भले ही कुटज हो, वे हिमालय के सौन्दर्य का वर्णन कर सकते हैं, महादेव की महिमा का गान कर सकते हैं। शैली का यह खुलापन कथ्य का विस्तार कर देता है। हजारीप्रसाद द्विवेदी जी को कालिदास बहुत पसंद हैं, इसलिए अपने निबंधों में कालिदास का उल्लेख जरूर करते हैं। 'कुटज' का तो आरंभ ही कालिदास की रचनाओं से होता है। फिर बीच–बीच में भी कालिदास आते रहते हैं। कालिदास के साथ–साथ याज्ञवल्क्य भी कभी आ जाते हैं। रहीम ने एक दोहे में कुटज की अवमानना की थी। द्विवेदी जी उस दोहे को उद्धृत करके अपनी असहमति भी दर्ज करते हैं।

सिर्फ कालिदास ही नहीं, अन्य प्राचीन प्रसंगों को भी वे बेहिचक ले आते हैं। यदि उन प्रसंगों को पाठक पहले से ही जानता–समझता है तो उसका आनंद बढ़ जाता है, यदि नहीं भी जानता है तब भी उसके आनंद में कोई कमी नहीं रहती। 'कुटज' में "मौजमस्ती" भरपूर है। वर्णन में उल्लास और जोश से भरा हुआ खिलंदड़ापन है। कहीं पर भी मुर्दनी या उदासी छाई हुई नहीं है। कहीं भी वर्णन, विवरण, चिंतन और पाण्डित्य बोझिल नहीं होता। वर्णन की यह जीवंतता द्विवेदी जी की शैली की भारी विशेषता है। निबंध को पढ़ने की प्रक्रिया में कई बार ऐसा भी लगता है कि लेखक लिखते–लिखते सोच रहा है या सोचते–सोचते लिख रहा है।

'कुटज' में बीच–बीच में यात्रावृत्तांत का रूप भी दिखाई देता है। विशेष रूप से शिवालिक की पहाड़ियों और कुटज के भूगोल का वर्णन करते हुए द्विवेदी जी प्रकृति वर्णन में डूब जाते हैं। फिर सहज ही इससे वे बाहर आ जाते हैं। चिंतन करते–करते द्विवेदी जी उस विषय में डूब जाते हैं। फिर जब यह चिंतन प्रकरण समाप्त होता है तब वे किसी निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं, और सूक्तिपरक वाक्य लिखने लगते हैं। इन सूक्तियों का गंभीर दार्शनिक अर्थ होता है। फिर ये सूक्ति सीधी–सीधी नहीं आती। बीच–बीच में वे निबंध को घुमाते हुए वहाँ तक पहुँचते हैं। कई बार ऐसा भी लगता है कि सूक्ति उनके पास पहले से ही होती है। निष्कर्ष उनके पास होता है। फिर वे इस खोजी हुई सूक्ति को फिर से खोजने का नाट्य करते हैं। इस शैली से भी पठनीयता की वृद्धि होती है। 'कुटज' में उन्होंने इस शैली का बहुत प्रयोग किया है। यहाँ तक कि 'कुटज' का अंत भी सूक्ति से ही होता है।

'कुटज' में प्राचीन भारतीय साहित्य और संस्कृति के अनेक प्रसंग हैं, इसलिए इसकी भाषा बहुत संस्कृत निष्ठ है। कुछ शब्द बहुत प्राचीन अर्थ के साथ आए हुए हैं। वर्तमान पाठक को उनका पर्यायवाची ढूँढ़कर अर्थ ग्रहण करना होता है। हालाँकि द्विवेदी जी द्वारा प्रयुक्त शब्द का अपना सौंदर्य और अर्थ होता है। फिर द्विवेदी जी

कई बार अत्यंत देशज शब्दों का प्रयोग भी करते हैं। जैसे याज्ञवल्क्य के संदर्भ में ''धक्कामार'' शब्द का प्रयोग और नाम और रूप के संबंध को लेकर ''कचारा'' शब्द का प्रयोग। हालाँकि ऐसे प्रयोग कम मात्रा में आते हैं पर जब भी आते हैं तो एक चमत्कार की सृष्टि हो जाती है।

बोध प्रश्न

5. निम्नलिखित कथनों में से सही पर (√) का तथा गलत पर (×) का निशान लगाइए।

   क. ''कुटज'' में हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का व्यक्तित्व अभिव्यक्त होते–होते रह गया है। (सही / गलत)

   ख. पाण्डित्य के बोझ के कारण ''कुटज'' की पठनीयता कम हो गई है। (सही / गलत)

   ग. मेघदूत में मेघ की अभ्यर्थना कुटज के पुष्पों से की गई है। (सही / गलत)

6. रिक्त स्थानों की पूर्ति उचित विकल्प से कीजिए।

   क. हिमालय का वर्णन करते–करते द्विवेदी जी .... विधा का इस्तेमाल करने लगते हैं। (कहानी / यात्रावृत्तांत)

   ख. 'कचारा–निचोड़ा' शब्द का प्रयोग .... के प्रकरण में किया गया है। (नाम और रूप / याज्ञवल्क्य)

   ग. रहीम ने 'कुटज' की आलोचना इसलिए की है क्योंकि कुटज .... नहीं देता। (छाया / पुष्प)

7. ''कुटज'' की भाषा की विशेषताएँ बताइए।

   ....
   ....
   ....
   ....
   ....
   ....
   ....
   ....

8. ''कुटज'' में अभिव्यक्त लेखकीय व्यक्तित्व का वर्णन सात पंक्तियों में कीजिए।

   ....
   ....
   ....
   ....
   ....

14.6 संदर्भ सहित व्याख्या

उद्धरण :

इन्हीं में एक छोटा–सा बहुत ही ठिगना–पेड़ है, पत्ते चौड़े भी हैं, बड़े भी हैं। फूलों से तो ऐसा लदा है कि कुछ पूछिए नहीं। अजीब–सी अदा है, मुस्कराता जान पड़ता है। लगता है, पूछ रहा है कि क्या तुम मुझे भी नहीं पहचानते ? पहचानता तो हूँ, अवश्य पहचानता हूँ। लगता है, बहुत बार देख चुका हूँ। पहचानता हूँ उजाड़ के साथ, तुम्हें अच्छी तरह पहचानता हूँ।

संदर्भ –

यह गद्यांश आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा रचित निबंध 'कुटज' से लिया गया है। इस अंश में 'कुटज' के पौधे के सौन्दर्य और विशेषता से लेखक परिचित कराता है। लेखक शिवालिक की सूखी नीरस पहाड़ियों में विचरण करते हुए वहाँ के विविध वृक्षों के विषय में चर्चा कर रहा है और आश्चर्य प्रकट करता है कि पत्थर पर उगे हुए इन वृक्षों को पनपने और फलने–फूलने के लिए भोग्य कहाँ से मिलता है। इन्हीं में एक छोडे पेड़ को देखकर लेखक यहाँ उसका विवरण देते हुए कहता है।

व्याख्या–

लेखक शिवालिक की पहाड़ियों में उगे एक छोटे बहुत ठिगने पेड़ का परिचय देते हुए बताते हैं कि इस छोटे से बहुत ही छोटे पेड़ के पत्ते चौड़े हैं और बड़े भी हैं। पूरा पेड़ फूलों से भरा हुआ है। लेखक उस पेड़ का मानवीकरण करते हुए कहते हैं इस पेड़ को देखने पर कुछ विशिष्टता लगती है, ध्यान अपनी तरफ खींचता है। फूलों से लदा यह वृक्ष ऐसा लगता है मानों मुस्कुरा रहा हो। लेखक को यह भी लगता है कि वह पेड़ उनसे पूछ रहा है कि क्या द्विवेदी जी उस वृक्ष को पहचानते हैं, उसके वैशिष्ट्य को जानते हैं, उसके सांस्कृतिक महत्व को जानते हैं ? लेखक उस पेड़ के इस प्रश्न पर जोर देकर कहता है कि उन्होंने इसे कई बार देखा है। इस अंश में लेखक कुटज को आत्मीय संबंधी, उजाड़ के साथी के रूप में अभिव्यक्त करते हैं। कुटज का यह परिचय निबंध की आधारभूमि के रूप में है।

विशेष :

'ठिगना' का शब्द का प्रयोग इस विशेष रूप में किया गया है कि अब यह पेड़ और बढ़ेगा नहीं लेकिन अपनी कद काठी में छोटा होते हुए भी विशिष्ट है और अपनी ओर ध्यान आकर्षित करता है।

14.7 सारांश

- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के निबंधों में भाव और विचार परस्पर गूँथे हुए होते हैं।
- द्विवेदी जी अपने पाठकों की जिज्ञासा को आमंत्रित करते हैं, फिर पाठकों को आश्चर्यमय आनंद की प्राप्ति होती है।
- 'कुटज' मस्तमौला है, वह 'वशी' है। उसने अपने मन को वश में कर लिया है। अतः दुख और सुख केवल मन के विकल्प ही है।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

- लेखक के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के बिना कोई भी लेखन साहित्य की श्रेणी में नहीं आता।
- द्विवेदी जी मानवीय गरिमा के समर्थक हैं। उनके व्यक्तित्व में पाण्डित्य और सहजता का अद्‌भुत सामंजस्य है।
- द्विवेदी जी प्रकृति के सौंदर्य पर मुग्ध हैं। यह मुग्ध भाव उनके मन में कुटज को देखकर भी जाग्रत होता है।
- 'कुटज' संवादधर्मी निबंध है। लेखक निबंध में पाठक से हमेशा संवाद करता रहता है। इससे पाठक और लेखक में आत्मीयता बढ़ती जाती है। साथ ही पाठक विचार करने तथा चिंतन करने के लिए प्रेरित भी होता है। इस संवादधर्मिता के कारण इस निबंध की संप्रेषणीयता बढ़ जाती है।
- द्विवेदी जी को कालिदास बहुत पसंद हैं। इसलिए उनके निबंधों में कालिदास को अवश्य ही उद्धृत किया जाता है।
- ''कुटज'' में कहीं–कहीं यात्रावृत्तांत का सौंदर्य दिखाई देता है।
- विषय के अनुरूप उनकी भाषा संस्कृत निष्ठ है, परन्तु उन्होंने बीच–बीच में देशज शब्दों का प्रयोग भी किया है।

14.8 कठिन शब्दों के अर्थ

यहाँ निबंध में आए कुछ कठिन शब्दों के अर्थ दिए जा रहे हैं। निबंध के वाचन/अध्ययन में ये आपके सहायक होंगे।

सुस्मिता	–	मंद हास्य
गिरिकान्ता	–	गिरि की प्रिया
वनप्रभा	–	वन का सौंदर्य
शुभकिरीटिनी	–	उज्ज्वल मुकुट
मदोद्धता	–	उन्माद में विह्वल, मद में पागल
विजिता तपा	–	आत्म को जिसने जीत लिया हो
अकुतो भय	–	जिसको किसी से भय न हो।
मनोरथानाम गति न विद्यते	–	''कुमारसंभव'' से लिया गया है। मनोरथ कभी निष्फल नहीं होते।
गिरिकूट	–	पर्वत शिखर
कुसुम स्तबकों	–	पुष्प गुच्छ
कुटहारिका	–	दासी
स्फीयमान	–	निरंतर विस्तारित होने वाला
कान्तार	–	वन
वशी	–	वश में करने वाला
उपहत	–	घायल

अनत्युच्च	–	जो बहुत ऊँचा न हो
मनस्वी	–	बुद्धिमान
पृथ्वी का मानदंड	–	कालिदास ने ''कुमारसंभवम्'' में हिमालय को पृथ्वी का मानदंड कहा है।
दुख और सुख मन का विकल्प है	–	इसमें द्विवेदी जी ने श्रीमद्भगवद् गीता के 'स्थित प्रज्ञ' की अवधारणा की व्याख्या की है।

14.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. (क) सही, (ख) गलत (ग) सही (घ) गलत
2. कालिदास
3. मेघदूत
4. जीवित रहने के लिए जिजीविषा
5. (क) गलत (ख) गलत (ग) सही
6. (क) यात्रा वृत्तांत (ख) नाम और रूप (ग) छाया।

प्रश्न 7 एवं 8 के उत्तरों के लिए 14.4 एवं 14.5 देखिए।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 15 'सहस्र फणों का मणि–दीप' (कुबेरनाथ राय) की अंतर्वस्तु और विश्लेषण

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 कुबेरनाथ राय का संक्षिप्त जीवन परिचय

15.3 'सहस्र फणों का मणि–दीप' का कथ्य

15.3.1 विचार पक्ष

15.3.2 भाव पक्ष

15.4 संरचना शिल्प

15.4.1 शैली

15.4.2 भाषा

15.5 पौराणिक और मिथकीय संदर्भ

15.6 संदर्भ सहित व्याख्या

15.7 सारांश

15.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

15.0 उद्देश्य

यह इकाई पाठ्यक्रम की अंतिम इकाई है। इस इकाई में ललित निबंधकार कुबेरनाथ राय के निबंध 'सहस्र फणों का मणि–दीप' का विश्लेषण एवं मूल्यांकन किया गया है। इकाई के अध्ययन के उपरांत आप :

- कुबेरनाथ राय का संक्षिप्त परिचय जान सकेंगे;
- 'सहस्र फणों का मणि–दीप' के कथ्य और अंतर्वस्तु की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे;
- 'सहस्र फणों का मणि–दीप' की संरचना और शिल्प को समझ सकेंगे; और
- प्रस्तुत निबंध में लेखक के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति को बता सकेंगे।

15.1 प्रस्तावना

कुबेरनाथ राय हिंदी के प्रतिष्ठित ललित निबंध लेखक हैं। उन्हें सरदार पूर्णसिंह, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और विद्यानिवास मिश्र की परंपरा में रखा जाता है। उन्होंने भारतीय संस्कृति के वैभव पूर्ण इतिहास से संबद्ध निबंधों की रचना की है। हिन्दू पुराणों, मिथकों और अन्य ग्रंथों में कुबेरनाथ राय अपने निबंधों की सामग्री चुनते हैं। उस सामग्री को एक ललित–मनोहर वातावरण में गूँथकर हमारे आज के दैनिक जीवन से उसे जोड़ देते हैं, जिसमें उसकी प्राचीनता का, रहस्यमयता का वैभव बना रहता है। यह सारा विवरण उल्लास से भरा हुआ दिखाई देता है। वे इन प्रकरणों में

कुबेरनाथ राय अतार्किकता के भीतर तार्किकता, अलौकिकता के भीतर लौकिकता को ढूँढ़ लाते हैं।

यह कला अपने आरंभिक रूप में हमें सरदार पूर्णसिंह के पश्चात् आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी में देखने को मिलती है। हालाँकि द्विवेदी जी इन पुराकथाओं और मिथकों में रमते नहीं। वे उनका विखंडन करके उन्हें इतिहास का अंग बना देते हैं और तब वे इतिहास देवता या काल–देवता का विवेचन–विश्लेषण करने लगते हैं। बाद में यह विशेषता हमें विद्यानिवास मिश्र के निबंधों में मिलती है। विद्यानिवास जी की अभिरुचि इतिहास और मिथक के समन्वय में रही है। वे उस समन्वय को खोजते हैं। लोक में हमारे मिथक इस तरह से घुल मिल गए हैं कि उनका रूप पूरी तरह बदल गया है। यह परिवर्तन इतना अधिक हो गया है कि अब उन्हें पहचानना ही मुश्किल हो गया है। उस बारीक संबंध सूत्र को खोजने का प्रयास विद्यानिवास मिश्र के निबंधों में देखने को मिलता है।

कुबेरनाथ राय इन दोनों से मिन्न प्रकृति के निबंधकार हैं। ये दोनों निबंधकार चिंतन पर, तर्क पर विश्वास करते हैं। वे अपने मत के समर्थन में तर्क देते हैं। कुबेरनाथ राय तर्क में नहीं जाते। उनकी दृष्टि सौन्दर्य पर टिकी रहती है। यह सौन्दर्य लोक में, मिथकीय दुनिया में, प्रकृति में और इन सब के सामंजस्य में बनी रहती है। इस सौन्दर्य को पुष्ट करने की आवश्यकता वे नहीं मानते। सौन्दर्य की अकुण्ठ अभिव्यक्ति उनके निबंधों का प्राण है।

'सहस्र फणों का मणि–दीप' निबंध में मणिपुर के सौन्दर्य का उद्घाटन किया गया है। इसके लिए कुबेरनाथ राय मिथक–पुराण, इतिहास, भूगोल सभी को छानकर अभिव्यक्त करते हैं। इस निबंध के सौन्दर्य का विश्लेषण कर उसे समझने से पूर्व कुबेरनाथ राय का संक्षिप्त जीवन परिचय प्राप्त कर लेना उपयोगी रहेगा।

15.2 कुबेरनाथ राय का संक्षिप्त जीवन परिचय

कुबेरनाथ राय का जन्म गाँव मनसाँ, जिला गाजीपुर उत्तर प्रदेश में 26 मार्च, 1933 को हुआ और मृत्यु 5 जून, 1996 को हुई। उनकी माता का नाम लक्ष्मी राय और पिता का नाम बैकुण्ठ नारायण राय था। उनकी आरंभिक शिक्षा अपने गाँव मनसाँ में हुई। बाद में क्वींस कॉलेज, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस और कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता के छात्र हुए। आरम्भ में वे विज्ञान के विद्यार्थी थे, बाद में उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय से अंग्रेजी में एम.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। कुबेरनाथ राय भूमिहार थे। उनका परिवार कृषि कार्य करता था। भूमिहार अपना उत्स परशुराम से मानते हैं। उनका परिवार वैष्णव परंपरा में विश्वास करता था तथा घर में 'रामचरित मानस' का पाठ होता रहता था। इस धार्मिक प्रवृत्ति का उन पर गहरा प्रभाव दिखाई देता है। लगभग 13–14 वर्ष की अवस्था में उनका विवाह हो गया। एम.ए. करने के बाद वे कलकत्ता में ही विक्रम विद्यालय में अध्यापक बन गए। बाद में सन् 1959 में वे आसाम चले गए और वहाँ नलबारी कॉलेज, नलवारी में प्राध्यापक बन गए। यहाँ पर वे 27–28 वर्षों तक रहे। बाद में जब असम में अशांति का दौर फैला, तब वे वापिस गाजीपुर आ गए और स्वामी सहजानन्द महाविद्यालय में प्राचार्य बन गए। यहाँ से वे 30 जून, 1995 को सेवा निवृत्त हुए और इसके 9 वर्ष बाद 5 जून, 1996 में उनकी मृत्यु हो गई।

उनके जीवन का परिचय देने वाले विद्वानों का मत है कि उनके लेखन की शुरूआत प्रो. हुमायूँ कबीर के इतिहास के लेखन के विरोध से हुई। कबेरनाथ राय मूलतः निबंध लेखक हैं, हालाँकि उनका एक कविता–संग्रह भी प्रकाशित हो चुका है। उनके 20 निबंध संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें से मुख्य निबंध संग्रह हैं–प्रिया नील कंठी, गंध मादन, रस आखेटक, विषाद योग, निषाद बाँसुरी, पर्व मुकुट, वाणी का क्षीरसागर, उत्तर कुरु आदि। सन् 1995 में कुबेरनाथ राय को उत्तर प्रदेश हिंदी साहित्य संस्थान का 'साहित्य भूषण' पुरस्कार प्रदान किया गया। इसके अलावा उन्हें प्रसिद्ध 'मूर्ति देवी' पुरस्कार भी प्रदान किया जा चुका था।

उनके लेखन की विविधता को रेखांकित करते हुए 'हिन्दी समय' में श्री मनोज कुमार राय ने लिखा है कि श्री राय के कुल 20 निबंध संग्रह प्रकाशित हैं। 1969 में 'प्रिया नीलकंठी' से शुरू हुई उनकी साहित्यिक यात्रा में साहित्यकार ''वैदिक साहित्य, भारतीय तंत्र साधना, वैष्णव परंपरा, रामकथा, महाभारत और प्राचीन इतिहास के महासागर में गोते मारकर वहाँ से भारत निर्मित के सूत्र आर्य–किरात–निषाद–द्रविड़ से लब्ध करता है तो कभी भूमिहार, कायस्थ, अहीर, धोबी, डोम आदि जातियों के उत्स–कला–परंपराओं की तल स्पर्शी छान बीन करते हुए उतरता है। कभी जीव हंस बनकर भारतीय साहित्य की रस वादी परंपरा के 'कजरी वन' में डुबकी लगाता है तो कभी विश्वसाहित्य और राजनीति के महाकांतार में अकेले ही गदा लेकर घूम आता है। वहीं पर वह 'शेक्सपीयर–होमर–वर्जिल' के साथ कुछ गप–शप भी लड़ा लेता है। फिर मन हुआ तो कंधे पर गमछा और हाथ में लउर लेकर गंगा किनारे चला जाता है। वहाँ अरार पर खड़े होकर कुबेरनाथ राय जब 'निषाद बाँसुरी' का तान छेड़ते हैं तो अरियात–करयात से फागुन डोम, रामदेव मल्लाह और रंगा माँझी को कौन कहे धोबी, होली–चैता–लोरकी गाने वालों के साथ–साथ फूल लोढ़ने वालों वालियों की भीड़ वालों लग जाती है। वहीं उस 'पाँत के आखिर' में 'शील–गंध अनुत्तरों' का सोटा लिए हुए गाँधी भी खड़े नजर आते हैं।'' इस उद्धरण के माध्यम से कुबेरनाथ राय के विविध आयामी लेखन के सभी पक्षों को जाना जा सकता है।

उनके साहित्य के विविध पक्षों का विवेचन करते हुए कुबेरनाथ राय के साहित्य के प्रभाव का भी विश्लेषण किया जाना आवश्यक हो जाता है। इस संदर्भ में मनोरंजन कुमार राय ने लिखा है, ''दरअसल श्रीराम को पढ़ते हुए पाठक एक ही साथ साहित्य, इतिहास, दर्शन, धर्म, नृतत्व, विज्ञान, मिथक, लोक, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, शिक्षा आदि से परिचित होता हुआ अपने मानसिक ऋद्धि और बौद्धिक क्षितिज का विस्तार करना चलता है।'' इसी विविधता और गहनता के कारण उनके निबंध जटिल लगते हैं और पाठकों को मुश्किल से समझ में आते हैं।

15.3 'सहस्र फणों के मणि–दीप' का कथ्य

इस निबंध में कुबरेनाथ राय ने मणिपुर के बनने की पौराणिक और ऐतिहासिक कथा का वर्णन किया है। इस निबंध का मुख्य प्रतिपाद्य है–मणिपुर।

मणिपुर प्रदेश का उद्‌भव और पौराणिक कथा

कुबेरनाथ राय के अनुसार भगवान कृष्ण वृन्दावन में गोपियों के साथ नित्य रास लीला किया करते थे। लेखक हमें उस युग में ले जाता है। इस रास लीला की चर्चा देवलोक में भी पहुँची। शिवजी ने भी यह चर्चा सुनी तो उनके मन में इस रास लीला

में शामिल होने या कम से कम उसे देख लेने की इच्छा जाग्रत हुई। शिवजी ने कृष्ण से अनुरोध किया। कृष्ण ने इनकार कर दिया। मिथकीय कथाओं के अनुसार शिवजी के तीन नेत्र थे और इस तीसरे नेत्र से अग्नि निकलती है, जो सामने वाले को भस्म कर देती है। इसी अग्नि से प्रेम के देवता कामदेव जलकर भस्म हो गए थे। बाद में रति के अनुरोध पर शिवजी ने उन्हें अशरीरी रूप में उपस्थित रहने का आशीर्वाद दे दिया। तभी से कामदेव शिवजी के सामने आने से घबराते हैं। रास–नृत्य में कामदेव की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। इसी तरह नर्तकियाँ भी शिवजी की उपस्थिति से असहज महसूस कर रही थी। इसके अलावा इस रास नृत्य में एक पुरुष, कृष्ण तो होते ही थे। अन्य पुरुष की उपस्थिति रस में विघ्न पैदा कर सकती है। इन्हीं बातों का विचार करके सब शिवजी के आने असहज अनुभूत कर रहे थे। बहुत अनुनय–विनय के बाद यह तय हुआ कि शिवजी वहाँ आ तो सकते हैं लेकिन वे इस रास–नृत्य को देख नहीं सकते। उन्हें वहाँ पीठ करके खड़े होने की अनुमति मिली, जिसे शिवजी ने स्वीकार कर लिया। शिवजी को यह नृत्य बहुत पसंद आया।

शिवजी यहाँ से पुनः कैलास पर्वत पहुँचे, जहाँ उनका निवास स्थान है। वहाँ उन्होंने देवी पार्वती से नृत्य करने का प्रस्ताव रखा। वे दोनों ऐसी (वृंदावन जैसी) शांत, एकांत और मनोरम भूमि की खोज में निकले। इसी खोज में दोनों ''मणिपुर की उपत्यका के एक गिरिश्रृंग'' पर उतरे। यहाँ उन्हें मानसरोवर से भी कई गुणा बड़ा स्वच्छ तालाब दिखा, चारों तरफ पानी ही पानी। यह देखकर देवी भगवती ने कहा कि यहाँ तो जल ही जल है, नृत्य के लिए तो भूमि चाहिए, जो यहाँ है ही नहीं। शिवजी ने तब त्रिशूल का आघात किया। इस आघात से भीतर का जल बाहर निकला और वह जल 'मणिपुर नदी या इम्फाल नदी' के रूप में बहने लगा। यह नदी बहती हुई बर्मा में प्रवेश करके 'सिन्धु विन' में जा मिलती है और फिर ये दोनों नदियाँ इरावती में मिल जाती हैं।

इस प्रकार मणिपुर की यह 'सुवर्ण भूमि' प्रकट हुई। इस आदिम नृत्य के लिए स्वर्ग लोक से नौ अप्सराएँ उतरीं और मणिपुर की नौ पर्वतमालाओं पर एक–एक अप्सरा नृत्य करने लगी। ''सारा एकांत नृत्य मुखर हो उठा। आकाश मण्डल के तारागण पंक्तिबद्ध होकर खड़े हो गये। काल का प्रवाह थम गया। अनन्त विस्तार वाला दृश्य सिमटकर मणिपुर के चारों ओर इकट्ठा हो गया। इस महान नृत्य में प्रकाश उत्सव मनाया शेषनाग ने। वे पाताल से आकर नृत्यभूमि के बीचोंबीच वे अपने हजार फणों पर हजार मणि–दीप उठा कर स्थिर हो गये। उसी सहस्र भूमि दीप की स्मृति में इस क्षेत्र का नाम पड़ा 'मणिपुर।'' शेषनाग के इस रूप पर टिप्पणी करते हुए कुबेरनाथ राय ने स्थापित किया कि ''शेषनाग के अनन्त फण काल के प्रतीक हैं और– अनन्तकाल पुरुष इस नृत्य के साक्ष्य में एक बिन्दु पर कुण्डली मारकर बैठ गया, स्तब्ध होकर, प्रभावहीन–गतिहीन होकर और अपने माथे पर हजार–हजार आरती दीप जलाकर!''

पुराण से इतिहास में संक्रमण

इस नृत्य में सहायक के रूप में 'पिनाक वीणा' बज रही थी। इसी अवसर पर शिव ने विशेष प्रकार के मृदंग का आविष्कार किया जिसे 'पंखोल' या 'पङ्खोल' कहा जाता है। इसका संबंध मणिपुर की संस्कृति से जोड़ते हुए कुबेरनाथ राय ने लिखा कि शिव द्वारा बनाई गई इस मृदंग से 'मणिपुरी मृदंग' बनाई गई। इसके साथ पार्वती ने भी एक वीणा की रचना की जिसे 'वेना', 'पिना' या 'पिनाक वीणा' कहा जाता है। मणिपुर

की संस्कृति के इस मिथकीय संदर्भ से हम आज के मणिपुर की संस्कृति को थोड़ा–बहुत समझ सकते हैं।

इस अवसर पर शिवजी ने अपनी कटि पर मृदंग को धारण किया और उन्होंने अद्भुत वादन किया। इस वादन की ध्वनि पर पार्वती ने नृत्य किया। उस नृत्य को आज हम 'लास्य' के रूप में जानते हैं। इस 'लास्य' नृत्य से मणिपुरी रास नृत्य पैदा हुआ। इस पूरे प्रकरण के पश्चात कुबेरनाथ राय इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ''मणिपुर मूलतः शिव के 'रास नृत्य' की भूमि रहा है। इसी 'शिवरास' पर वर्तमान 'कृष्णरास' का आरोपण और विकास तो हाल की घटना है 18वीं शती की। मणिपुर के अंदर शताब्दियों से प्रचलित सारे कोमल वृत्ति प्रधान 'नृत्य' इसी के अंदर अन्तर्भुक्त कर दिए गए। आधुनिक मणिपुरी रास नृत्य आर्य वंशी यादवों के 'रास' और किरातवंशीय मणिपुरियों के लास्य का सम्मिश्रण है।''

भारतीय नृत्य के इतिहास में लास्य के साथ ताण्डव नृत्य की भी चर्चा होती है। ताण्डव का संबंध भगवान शिव से है। ''इसी भाँति शिव ने अपने दो हाथों से मृदंग वादन करते हुए और शेष दो हाथों से डमरू तथा त्रिशूल का संचालन करते हुए जिन पुरुषोचित नृत्यों का प्रतिपादन किया, वे ताण्डव कहलाये और उसी ताण्डव के हल्के–फुल्के रूप मणिपुरी लोकनृत्यों यथा 'लाईहारौबा' में, मणिपुरी प्रदेश के कूकी नागा आदि जनजातियों के युद्ध नृत्य, शिकार नृत्य, बर्छा नृत्य आदि में आज भी प्रचलित है। ताण्डव के ये लोकायत संस्करण अपने शुद्ध रूप में पड़ोस के नागाओं में मिलेंगे।''

कुबेरनाथ राय बड़ी बारीकी से मणिपुर को मिथक से इतिहास में प्रविष्ट करवा देते हैं। मणिपुर का पहला राजा चन्द्रभानु गंधर्व था। उसकी वंश परंपरा में चित्रांगदा नामक राजकन्या का जन्म हुआ। इस कन्या का 'निद्रा विजयी अर्जुन' से युद्ध हुआ। इस युद्ध में अर्जुन पराजित हुआ। कुछ लोगों का कहना है कि दोनों एक–दूसरे से पराजित हुए। इस चित्रांगदा का एक पुत्र हुआ–बभ्रुवाहन। ''कहते हैं कि मणिपुर के वर्तमानकालीन शासक भी इसी बभ्रुवाहन की वंश परंपरा में थे। यों इतिहासकार कहते हैं कि यह बात नहीं। वे थे नागा राजकुमार, परन्तु 18वीं शती में एक रामानंदी संन्यासी शांतिदास ने आकर राजा 'पाड़हेइबा' (पानहेइबा) को जो वस्तुतः नाग था, बताया था कि वह चन्द्रवंशी अर्जुन की वंश परंपरा में है। राजा मान गया। रामोपासना की शुरूआत हुई। राजा ने राम और हनुमान की उपासना करनी प्रारम्भ कर दी। राजा का नया नाम हो गया 'गरीब–निवाज सिंह।'' इस तरह मणिपुर में आर्य परंपरा का प्रारम्भ हुआ और राजा ने पड़ोसी मुल्क बर्मा पर आक्रमण किया तथा विजय प्राप्त की। इसके कुछ दिनों बाद रामानंदी परंपरा तो समाप्त हो गई, परन्तु वैष्णव धर्म यहाँ बना रह गया। धीरे–धीरे गरीब–निवाज की तीसरी पीढ़ी के बाद बंगाली वैष्णव धर्म का यहाँ प्रवेश हुआ। कुबेरनाथ राय के अनुसार आधुनिक इतिहासकार ऐसा ही सोचते हैं। अर्थात् आधुनिक मणिपुरी (मेथेई) जाति का धर्म वैष्णव धर्म बन गया।

15.3.1 विचार पक्ष

इतिहासकारों से भिन्न मत रखते हुए कुबेरनाथ राय कहते हैं कि ''नया इतिहास जो चाहे कहे परन्तु सहस्र शताब्दियों से चली आ रही भारत की व्यास–कल्पना और मणिपुर की काबुई प्रतिभा से सुरक्षित अर्जुन और चित्रांगदा का रोमांस इस प्रदेश के भारतीयकरण की अतिदीर्घ परंपरा का संकेत करता है। भारत की भाषा, शिल्प, भाव

बोध और लोकायत धर्म के ताने–बाने में दो तिहाई से अधिक ही निषाद–किरात–द्रविड़ तत्वों का स्पष्ट समावेश हुआ है।'' हालाँकि कुबेरनाथ राय मानते हैं कि यहाँ की उत्तर भारतीय कथन भंगिमा आर्यमुखी है। उत्तर भारत से आर्य पूर्व की तरफ बढ़ते गए। उन्हें पूर्व की संस्कृति 'मायाविनी और सुंदर' लगी। ''पूरब को वे अप्सरा लोक या नारी राज्य कहते थे।'' सदा नीरा के तट से इस तरफ नारी राज्य है जिसकी विशेषता यह थी कि यहाँ 'आनुवंशिकता का उत्तराधिकार' नारी को मिलता था, पुरुष को नहीं। यह 'अंगना देश', यह नारी राज्य खिसककर मणिपुर चला गया। ''रम्य दारुण अरण्य से अच्छादित अनजाना, सम्मोहक अद्भुत देश।'' यहाँ पर भी आर्यों के अनु प्रवेश से उत्तराधिकार तो पुरुष प्रधान रहा, किन्तु समाज व्यवस्था और अर्थव्यवस्था नारी प्रधान ही रही।

भारत का यह हिस्सा 'लाल मिट्टी' का है–रंगीन भारत। यह 'किरात भारत' है। आर्यों ने जब इसे देखा तो इन्हें 'किन्नर' कहा। अर्थात् यह भी नर है ? ''लद्दाख से मणिपुर तक फैले हुए किरातारण्य को ही उन्होंने गंधर्व लोक, यक्षलोक, अप्सराभूमि, कदलीवन आदि के रूप में पहचाना।'' कल्पना लोक का निर्माण करते हुए कुबेरनाथ राय ने पहचाना कि मणिपुरी जन समाज और मणिपुर राज्य के नागागण ''कूकी चीनी नागाओं के वंशज हैं। आज मणिपुरी अपने को 'मेथेई' कहते हैं और इतिहासकारों के अनुसार ये बर्मी किरात हैं, जो बहुत पहले प्राचीन काल में लुशाई पर्वत (मिजोरम) और मणिपुर में आकर बस गये थे। तथ्य तो यह है कि मणिपुर कई जातियों के प्रवाह–प्रतिप्रवाह का 'घाट–स्थल' रहा है।'' ये किरात वंशी हैं। पश्चिम से आर्यों का जत्था जब यहाँ आया तो इन आर्यों का प्रभाव भी इन पर पड़ा। ''भाषा वैज्ञानिक कहते हैं कि 'मेथेई' शब्द 'कूकी चीनी' बोली का है, जिसका अर्थ होता है भिन्न या 'अन्य जन।'' मैथेई जाति में किरातेतर या भिन्न जन का मिश्रण होने से ही यह संज्ञा जन्मी होगी। यह भिन्न जन संभव है भारतीय आर्य या भारतीय निषाद से संबंधित रहे हों।'

15.3.2 भाव पक्ष

विचार पक्ष में कुबेरनाथ राय ने जो बातें कही है, यह निबंध उन के कारण महत्वपूर्ण नहीं है। हालाँकि वह चिन्तन–विवरण बहुत महत्वपूर्ण हैं और मणिपुर के बारे में कई नई जानकारियाँ देने वाले हैं। लेकिन ये जानकारियाँ तो इतिहास और धर्म–संबंधी लेखन में भी मिल सकती हैं। इस निबंध का लालित्य और सौन्दर्य इसके भाव पक्ष के कारण है। वे अपने इस निबंध में मणिपुर के सौन्दर्य पर मुग्ध हैं और वे अपने मुग्धा भाव को अनेक कोणों से प्रकट करते हैं। इसलिए इस निबंध के विचार पक्ष के साथ इसके भाव पक्ष को जानना और समझना भी महत्वपूर्ण है। कुबेरनाथ राय गंभीरता से केवल गंभीर बातें ही नहीं कहते वरन् कल्पना की उड़ान भरते हुए, बातों को, विचारों को, इतिहास को, मिथ को अत्यंत कोमलता से स्पर्श करते हुए वर्णन करते जाते हैं।

इस निबंध की शुरूआत निबंध के प्रस्तुतकर्ता के आत्म परिचय से होती है। यह प्रस्तुत कर्ता 'मेघ' है। इस परिचय से पाठकों की जिज्ञासा जाग्रत होती जाती है कि यह कौन है और किसके बारे में क्या कह रहा है। ''मैं क्या हूँ, मैं कह नहीं सकता, मैं नील व्योम में मेघ की तरह निरंतर आकृति बदलते हुए चल जो रहा हूँ, मधु–माधव के गुप्तचर की तरह। कभी डोर कटी पतंग जैसी, कभी रुई के छूह या पर्वत शिखर जैसी, कभी पूंछ कटे सिंह जैसी तो कभी हाथी– ऊँट जैसी तरह–तरह की आकृतियाँ मन–मारुत के प्रवाह के अनुसार मैं धारण कर लेता हूँ और नीलव्योम में देश–विदेश

विचरण करता रहा हूँ।'' पाठकों की जिज्ञासा और कल्पना को जाग्रत करने वाला यह आवारा, यायावर मेघ है। मणिपुर के भूगोल और इतिहास के ऊपर विचरण करते हुए उसके साथ, उसके समान ही वायवीय उसकी प्रेमिका काबुई कन्या है, जिसका नाम वह 'दामिनी' रखता है। यह काबुई चारणों और भाटों के तरह की एक जाति है, जो कवित्व के साथ गीतों और कथाओं की परंपरा की वाहक है।'' मणिपुर नदी के निर्मल जल में जब वह अपना मुँह धो रही थी, तब उसके निष्पाप सौन्दर्य का दर्शन मेघ ने किया। फिर दोनों के बीच रहस्यमय संबंध विकसित हुआ। अब कभी मेघ इसके सौन्दर्य पर मुग्ध होता है, कभी यह कन्या मेघ को मणिपुर की बातें बताती जाती है। हम केवल इनकी बातें ही नहीं सुनते अपितु इन दोनों को भी सुनते जाते हैं।

जब ये दोनों उड़ान भरते हैं तब उनकी भाषा में बिम्बों की लड़ियाँ आ जाती हैं। मेघ जब पहली बार काबुई कन्या के सौन्दर्य पर मुग्ध होता है, तब उसके मन में कामभाव जाग्रत नहीं होता, जैसा आमतौर से प्रेम कहानियों में हम पढ़ते हैं, वरन् उसकी निष्पाप, पवित्र दृष्टि के हम कायल हो जाते हैं। मेघ भी निष्पाप बना रहता है और काबुई भी निश्छल बनी रहती है। फिर दोनों साहचर्यजन्य आनंद की भूमिका में आ जाते हैं। इस मोहक मिलन में काबुई कन्या क्या महसूस कर रही है, यह पाठक को बताया नहीं जाता। बस मेघ मुग्ध होता जाता है। दोनों के बीच आत्मीय रिश्ता बनता है और वे साथ–साथ विचरण करने लग जाते हैं। मणिपुर से जुड़ी हुई पौराणिक, मिथकीय, ऐतिहासिक, भौगोलिक और लौकिक जानकारियाँ यह कन्या ही मेघ को बताती है और मेघ पाठकों को संबोधित करता है।

इस बातचीत में कोई तारतम्य नहीं है, कहीं की बात कहीं भी आ जाती है। इन सब बिखरी हुई बातों में एकत्व है, जिसे हम समझ सकते हैं। मेघ और काबुई के रिश्ते में सहजता और आत्मीयता है। जिस विषय का ये वर्णन करते हैं, उसके प्रति ममत्व भाव दीखता है। वे किसी तटस्थ स्थिति का विवरण नहीं देते, वरन् नितांत अपने आत्मीय और दर्शनीय स्थान का विवरण दे रहे होते हैं, जो सांस्कृतिक दृष्टि से समृद्ध है।

कल्पना के आवरण में जब कुबेरनाथ राय तथ्य कथन कहने लगते हैं तो यह एहसास नहीं होता कि वे नीरस तथ्य कह रहे हैं, वह कथन भी भाव से भीगा हुआ लगता है। मणिपुर की भूमि कृषि की दृष्टि से उपयुक्त नहीं है, इस बात को भी वे बड़ी मासूमियत से कहते हैं ''फलों, वृक्षों और लताओं के लिए यह धरती ज्यादा उपयोगी है बनिस्पत कृषि के।'' यह अनुराग से दी गई तथ्यात्मक सूचना है। इसी भावनात्मकता से मणिपुर की धरती को देखा गया है और दिखाने का प्रयत्न किया गया है।

इस निबंध में मणिपुर का सौन्दर्य और ऐश्वर्य तो है, परन्तु मणिपुर की पीड़ा का कहीं वर्णन नहीं है। मणिपुर का भौगोलिक कष्ट, सामाजिक संघर्ष, राजनीतिक उत्पीड़न का कहीं जिक्र तक नहीं है। इसलिए इसमें किसी पर व्यंग्य या उपहास का वातावरण नहीं मिलता। विस्थापन और बसावट से उत्पन्न पीड़ा की तरफ लेखक की दृष्टि गई ही नहीं है। जीवन संघर्ष को उन्होंने वहाँ के निवासियों की कर्मठता और जीवंतता से ढँक दिया है। इसलिए पाठक को इसमें भी अच्छा से अच्छा आत्मीय संतुष्टि से परिपूर्ण अनुभव होता है और यह विरल है। इससे यह भी संदेह होता है कि यह बाहर से या दूर से या आसमान से देखा हुआ जीवन है भोगा हुआ नहीं। धरती पर पैदल चलने वालों का बरसात, सर्दी और बाढ़ सहने वाले का अनुभव इसमें कहीं दिखाई नहीं देता। इसलिए यह निबंध पर्यटकों को आकर्षित करने वाला मणिपुर के सौन्दर्य

और उससे संबद्ध कथाओं का विवरण देने वाला है परन्तु वहाँ बसने की इच्छा रखने वालों के लिए इसमें विशेष ज़मीनी जानकारियाँ नहीं है।

बोध प्रश्न

1. उपयुक्त शब्दों द्वारा रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए:

   क) प्रस्तुत निबंध का प्रस्तोता .... है।

   ख) मेघ ....कन्या पर मुग्ध होता है।

   ग) सहस्र फण .... के होते हैं।

2. निम्नलिखित में से सही विकल्पों को चुनिए :

   1) मणिपुर की भूमि.............................. के लिए उपयुक्त नहीं है। (पेड़–पौधों / कृषि कार्य)

   2) शिव–पार्वती के आदिम नृत्य के लिए स्वर्ग लोक से .... अप्सराएँ नृत्य के लिए आईं। (नौ / दस।)

   3) मणिपुर मूलतः .... के 'रास–नृत्य' की भूमि रही है। (शिव / कृष्ण)

3. निम्नलिखित कथनों में से सही कथन पर (√) तथा गलत पर (×) का निशान लगाइए।

   क) मणिपुर में पार्वती ने ताण्डव नृत्य किया। (सही / गलत)

   ख) निद्रा विजयी अर्जुन चित्रांगदा से पराजित हुआ। (सही / गलत)

   ग) मणिपुर समाज कूकी नागाओं के वंशज माने जाते हैं। (सही / गलत)

15.4 संरचना–शिल्प

15.4.1 शैली

कुबेरनाथ राय का यह निबंध कहानी और निबंध का मिश्रण है। कल्पना और विचार का समन्वय है। तथ्य और वायवीयता का मिला–जुला रूप है। इस निबंध के प्रारंभ में मेघ का आगमन होता है। यह मेघ कामरूपी यायावर मेघ है। यह मेघ ही पाठकों को मणिपुर के संबंध में जानकारी देता है। कुछ कहानी कहता है, कुछ संस्मरण सुनाता है। कुछ इतिहास, मिथक और भूगोल में घुमाता है। इतना तो स्पष्ट है कि मेघ धरती को, मणिपुर को, मणिपुर के इतिहास–भूगोल को ऊपर से उड़ता हुआ देखता है। वह स्वयं भी पल–पल परिवर्तित होता रहता है।

निबंध जहाँ कहानी का रूप धारण करता है, वहाँ हमारे सामने दो पात्र आते हैं– एक मेघ, जो कहानी कहता है और दूसरा काबुई कन्या, जिसका नामकरण मेघ दामिनी के रूप में करता है ''मैं क्या हूँ, मैं कह नहीं सकता'', इस अनिश्चयात्मक वाक्य से निबंध का प्रारम्भ होता है। वह बताता है कि इस नीले आकाश में वह निरंतर अपनी आकृति बदलते हुए चल रहा है अपनी ही आकृति बदलना सरल कार्य नहीं है, परन्तु गुप्तचरों की तरह मेघ यह काम आसानी से कर लेता है। ''कभी डोर कटी पतंग जैसी कभी रुई के छूह या पर्वत शिखर जैसी, कभी पूँछ कटे–सिंह जैसी तो कभी हाथी–ऊँट

जैसी'' तरह–तरह की आकृति मेघ बना लेता है। वह कहीं का कहीं चल देता है। अभी वह उज्जैन में महाकाल की आरती देख रहा था, फिर वह घूमता हुआ मणिपुर पहुँच जाता है। यहाँ पर नदी के जल में अपना मुँह धोती हुई काबुई कन्या दिखाई देती है। आसमान में बादल हैं। नीचे नदी के जल में मुँह धोती हुई उस काबुई कन्या का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। थोड़ी देर में मेघ और प्रतिबिंब मिल जाते हैं और तब वह मेघ मानुष तन धारण करके नीचे उतर जाता है। यहाँ से ये दोनों पात्र साथ–साथ रहते हैं।

'काबुई' मणिपुर की उस जाति की कन्या है जो चारणों और भाटों की तरह गीतों और कथाओं को अपने कण्ठ में बसा लेती है। उसके सौन्दर्य पर मुग्ध मेघ कहता है कि उसकी ''अंग कांति शुद्ध पिघले स्वर्ण की तरह थी, जिसका रूप तीक्ष्ण तलवार जैसा तरंगित था, जिसकी भंगिमा काल–प्रवाह पर दृष्टि शासन करने वाली रानियों जैसी थी।'' ऐसी अद्भुत–अपूर्व–काल्पनिक काबुई कन्या बादल के साथ है। अब ''मैं उसी के साथ चल रहा हूँ अगरु वनों की शांत श्यामल छाया में। शाखाओं के अग्रभाग जड़ीभूत हो गए है और उनसे काला गुरु मह–मह फूट रहा है। इसी वृक्ष की छालों पर प्राचीन मणिपुरी पुराण लिखे गए हैं एक सर्वथा विचित्र लिपि में और उनके माध्यम से अतीत को बहुरूपी व्यास तरह–तरह की कथाएँ सुना जाता है। मणिपुरी लोक–धर्म की मंत्र संहिता और लोकायत तथा शास्त्रीय पुराण–उपाख्यान–नीति वचन आदि इन अगरु–वल्कलों से बाहर यदि कहीं मौजूद है तो वह स्थान है काबुई जनों की स्मृति और कंठ।''

इन निबंध का प्रस्तोता मेघ अपने आपको अवारा और यायावर के रूप में संबोधित करता है। वह मणिपुर के ''अगरुवनों, चन्दन वनों'' में ईश्वर के गुप्तचर की तरह भटक रहा है। जहाँ उसकी भेंट उस कन्या से होती है, जिस कन्या के ''चेहरे को सन्ध्या का आलोक और अधिक मनोरम'' बना रहा था। शायद इसी कारण मणिपुर में इस आलोक को 'कन्या आलोक' कहते हैं। इस काबुई कन्या को वह नया नाम देता है–'दामिनी'। अब ''मेघ और दामिनी सारी रात भटकते रहे। मणिपुर उपत्यका के अगरुवन, चंदनवन, देवदारु वन के बीच।'' यह दामिनी मेघ को मणिपुर के मिथकों की जानकारी देती है। उसके इतिहास को नए ढंग से प्रस्तुत करती है। निबंध में लेखक इसी के हवाले से बहुत सी विश्वसनीय और अविश्वसनीय बातें पाठकों को बताते चलते हैं।

मेघ और काबुई कन्या दोनों जब मणिपुर को देखने लगे, वहाँ की प्रकृति को देखने लगे तो उन्होंने देखा, ''चारों ओर पहाड़ों की परतें–दर–परतें हैं और वे कोमल काठ वाले पम्बा, उरियाम, गम्हार से लेकर मजबूत सदाबहार साल, चीड़, सागौन और खासी देवदारु वृक्षों से भरे पड़े हैं। पहाड़ों की ढलानों पर अपने आप घना वेणुवन उगा है। प्रधान नदियाँ दो ही हैं– 'बराक', जो सुरमा नदी में जा मिलती है और 'मणिपुर' (दूसरा नाम इम्फाला नदी भी है) जो सिंधुविना में मिलती है। नदी के आंचल में अगरु वृक्षों का वन है जिसके पत्ते श्याम हरित वर्ण के होते हैं और जिनकी शाखा के अन्तिम छोर पर कालागुरु कृष्णकाय भूत की तरह फूटता है जिससे सारा अंचल मंह–मंह करता रहता है।'' यहाँ की भूमि पर पेड़ आसानी से लगते हैं। कृषि के लिए उपयोगी नहीं है, ऐसी जानकारियाँ भी ये दोनों बीच–बीच में देते जाते हैं।

मेघ, काबुई कन्या का परिचय देते रहते हैं जो ''रानियों जैसी रूपसी और तेजस्वी'' है, परन्तु है वह कवि गोत्रीय कन्या। ''यह नृत्य तरंगयित देह वाली, प्रभा–भास्वर छोकरी

और कोई नहीं वस्तुतः मेरे हृदय में छिपे ब्रज का ही रूपांतर है। मेरे हृदय में छिपा हुआ निर्मल स्फटिक वर्ण संयम का जो बज्र है वही मणिपुर के इस गंधर्व लोक में आकर सौम्यकांत तनुधारण करके मेरे सम्मुख उपस्थित हो गया था। जिस भूमि में आकर निद्रा– विजयी अर्जुन पराजित हो गया, उस भूमि में निद्रा लोलुप मैं संयम का वज्र धारण करने का क्या स्वांग करूँ। अतः मैंने अपने अंदर स्थित वज्र का रूपान्तर हो जाने दिया। एक कवि कन्या के रूप में और उसके साथ रात भर देश–काल से मुक्त होकर विचरण करता रहा।''

इस तरह कुबेरनाथ राय ने अपने आपको अपने से अलग करके मेघ में रूपांतरित कर दिया। फिर उसी के भीतर से एक काल्पनिक (कवि कन्या) 'काबुई कन्या' को रूपांतरित कर दिया। अंत में यह भी स्पष्ट किया कि 'काबुई कन्या' मेघ के भीतर स्थित 'वज्र' का रूपान्तरण है। इन दोनों के जादुई विचरण, निरीक्षण, अनुभव और अनुसंधान को लेखक ने अतीव कुशलता ओर मनमोहक ढंग से शब्दबद्ध किया है। 'सहस्र फणों के मणि–दीप' मणिपुर की रोमांचक कहानी, इस प्रकार निबंध की विधा में रूपायित हो गई।

15.4.2 भाषा

कुबेरनाथ राय की भाषा तत्सम बहुल है। हिंदी में इस भाषा की परंपरा जयशंकर प्रसाद और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के लेखन में मिलती है। मिथक, पुराइतिहास और प्राचीन भारतीय संस्कृति के संदर्भ से लदी हुई इस भाषा का सौन्दर्य विरल है। शब्दों के प्राचीन अर्थ के साथ प्रसंगानुकूलता इसकी अन्य विशेषता है। यह निबंध के शीर्षक से ही स्पष्ट हो जाता है। सहस्र फण तो शेष नाग के होते हैं, इन फणों पर मणि का दीपक रहता है, लेकिन कुबेरनाथ राय ने इसे शेषनाग शब्द से अभिहित नहीं किया है। इनके प्रकाश से आलोकित प्रदेश 'मणिपुर' है, जिसके सौन्दर्य की गाथा इस निबंध में कही गई है। वे इसके अति प्राचीन वैभव को स्पष्ट करने के लिए शिव और पार्वती के आदिम नृत्य का भव्य आयोजन करते हैं। इस नृत्य की प्रकाश व्यवस्था शेषनाग करते हैं। भारतीय संस्कृति में यह सम्पूर्ण पृथ्वी शेषनाग के फण पर टिकी हुई है। अतः उनकी शक्ति अतुलनीय है। भारतीय संस्कृति तथा मिथकीय वर्णन के चलते तत्सम बहुल शब्दावली का प्रयोग इस पूरे निबंध में किया गया है। यथा स्थान इन शब्दों का सौन्दर्य देखा जा सकता है–

''स्थान–प्रतिस्थान श्वेत पुंडरीकों का सुगंधित पद्मवन''

या

''द्वितीय पुरुष के अनुप्रदेश से मेरा रसबोध तथा अंगनाओं का समर्पण–बोध खंडित होगा।''

इन तत्सम बहुल शब्दों के बीच–बीच में तद्भव और देशज शब्द भी निबंध में दिखलाई पड़ते हैं, लेकिन इनके प्रसंग और मात्रा बहुत कम है। यथा–

–'प्रभा भास्वर छोकरी'

–'रसिया छैल–छबीला हिप्पी'

–''यार, तो आजकल बड़ी मौज कर रहा है।''

इस तरह के भाषिक प्रयोग निबंध को और अधिक प्रभावशाली बना देते हैं।

दरअसल, काल्पनिक, मोहक और रहस्यमय वातावरण का सर्जन करने के लिए ऐसी ही भाषा उपयुक्त रहती है जैसी भाषा का प्रयोग निबंध में किया गया है। मिथकों की

अभिव्यक्ति में काल रहित प्राचीनता तो होनी चाहिए, जो इस निबंध की भाषा में है। इस निबंध में कई ऐसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं जो आजकल प्रयोग में नहीं आते। जैसे, आर्द्र पर्णपाती, बनश्री, शिला संतान मिट्टी। कुछ मणिपुरी शब्द भी यथास्थान देखे जा सकते हैं। यथा पोइरोतान (पुरोहितान), कानथौबा, लाईहारौबा आदि। कुछ नवीन प्रयोग भी किए गए हैं, जैसे महादेवी को 'करुलग्न भगवती', या 'निद्रा विजयी अर्जुन', 'जल–राध' आदि। फिर वे मणिपुर की मेथेई जाति का अर्थ करते हैं– भिन्न जाति। भारत का पुराना नाम 'यज्ञ भूमि' को भी इसी प्रक्रिया में याद करते हैं।

इस तरह इस निबंध में प्राचीन भारतीय संस्कृति के कई अपरिचित संदर्भ प्रकट होते हैं, जो आज के पाठकों के लिए अनजाने हैं। लेखक इस प्राचीन वैभव पर मुग्ध है। लेखक ने पुराण और इतिहास दोनों के संदर्भों द्वारा मणिपुर तथा वहाँ की संस्कृति के सौन्दर्य को समझाने/बताने का प्रयत्न किया है।

बोध प्रश्न

4. निम्नलिखित में सही कथनों पर (√) तथा गलत पर (×) का निशान लगाइए।

   क) सहस्र फणों का मणि–दीप कहानी और निबंध का मिश्रण है। (सही/गलत)

   ख) कुबेरनाथ राय की भाषा में तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुत कम किया गया है। (सही/गलत)

   ग) मणिपुर की नदी के स्वच्छ जल में अपना प्रतिबिंब देखकर मेघ प्रसन्न हो गया। (सही/गलत)

5. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए।

   क). उज्जयिनी के महाकाल मंदिर की आरती के समय मेघ ने कौन सा वेश धारण किया था।

   ....

   ....

   ....

   ख). कुबेरनाथ राय के अनुसार भारत का पुराना नाम क्या था ?

   ....

   ....

   ....

   ग). शिव और पार्वती के आदि नृत्य में प्रकाश की व्यवस्था किसने की थी ?

   ....

   ....

   ....

6. उचित शब्दों द्वारा रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

   क) मेघ ईश्वर के .... की तरह मणिपुर के आकाश विचरण कर रहा था।

   ख) इस निबंध में .... को कवि गोत्रीय कन्या पुकारा गया है।

   ग) मणिपुर वासी आजकल अपने को .... कहते हैं।

15.5 पौराणिक और मिथकीय संदर्भ

इस निबंध को ठीक से समझने के लिए पौराणिक और मिथकीय संदर्भों को जानना जरूरी है।

सहस्र फण– साँप के मुँह वाले हिस्से को फण कहते हैं। आमतौर से साँप का एक ही फण होता है। भारतीय पुराण कथाओं के अनुसार शेषनाग के अनंत फण थे, इसलिए उसे सहस्र फण वाला नाग कहते हैं। शेषनाग के इन फणों पर यह पृथ्वी टिकी हुई है। यह मान्यता भी प्रचलित है कि लक्ष्मण शेषनाग के अवतार थे।

महाकाल– भारत की चर्चित धार्मिक नगरी उज्जयिनी में भगवान महाकाल का मंदिर है। जो भी प्राचीन भारत की यात्रा करता है, वह महाकाल के मंदिर की आरती को देखने जरूर जाता है।

रास–लीला– कहा जाता है कि भगवान कृष्ण गोपियों के साथ नृत्य किया करते थे। इस नृत्य को रासलीला कहा जाता है। इस रासलीला का प्रभाव परवर्ती भक्ति साहित्य में देखने को मिलता है।

शिव का तीसरा नेत्र– आमतौर से मनुष्य के दो नेत्र होते हैं। उसी के अनुरूप अवतारी पुरुष के भी दो नेत्र होते हैं। केवल भगवान शिव के तीन नेत्र हैं। शिव जब तीसरा नेत्र खोलते हैं, तब संहार हो जाता है। यह तीसरा नेत्र खोलकर शिवजी ने कामदेव को भस्म कर दिया था।

कैलास– हिमालय का वह पर्वत, जहाँ भगवान शिव और माता पार्वती निवास करते हैं।

ताण्डव और लास्य– भारतीय नृत्य को दो भागों में बाँटा गया है। पुरुषोचित नृत्य ताण्डव और स्त्रियोचित कोमल नृत्य लास्य कहालाता है। शिवजी ने ताण्डव नृत्य किया था तथा पार्वती ने लास्य नृत्य किया था।

15.6 संदर्भ सहित व्याख्या

उद्धरण–1

मैं और वह। हम दोनों। अर्थात् मेघ और दामिनी सारी रात भटकते रहे। मणिपुर उपस्यका के अगरु वन, चंदन वन, देवदारु वन के बीच। आखिर यह दामिनी है कौन ? मैंने कहा था न कि एक रानियों जैसी रूपसी और तेजस्वी 'काबुई' अर्थात् कवि गोत्रीय कन्या। मेरे प्रिय बंधु इससे ज्यादा जानने के न तो तुम अधिकारी हो और न इसकी आवश्यकता है, तो भी तुम्हारी जिज्ञासा षांत करने के लिए बताये देता हूँ, सुन लो, यह नृत्य तरंगयित देह वाली प्रभा–भास्वर छोकरी और कोई नहीं वस्तुतः मेरे हृदय में छिपे वज्र का ही रूपांतर है। मेरे हृदय में छिपा हुआ निर्मल स्फटिक वर्ण संयम का जो वज्र है, वही मणिपुर के इस संदर्भ लोक में आकर सौम्यकांत तनुधारण करके मेरे सम्मुख उपस्थित हो गया था।

संदर्भ – प्रस्तुत पंक्तियाँ कुबेरनाथ राय के निबंध 'सहस्र फणों का मणि–दीप' से ली गई हैं। इस निबंध में दो पात्र हैं–एक कहानी को प्रस्तुत करता मेघ और दूसरी

उसकी प्रेमिका 'दामिनी'। दोनों मणिपुर के आसमान में साथ–साथ विचरण करते हैं। इस साहचर्य के बीच दामिनी मणिपुर के इतिहास, मिथक, भूगोल और जीवन की अनेक कहानियाँ सुनाती है। आरम्भ में मेघ बताता है कि दामिनी दरअसल एक काबुई कन्या है, जिसका प्रतिबिंब मेघ ने मणिपुर की नदी में देख लिया था। उसी के सौन्दर्य पर मुग्ध मेघ मानव–तन धारण करके नीचे उतर जाता है। काबुई मणिपुर की एक जाति है जो चारणों और भाटों की तरह कवित्व शक्ति से भरपूर है और उसके कंठ में मणिपुर के गीत, कथा और इतिहास सुरक्षित रहते हैं। नीचे उतरने के बाद ही मेघ काबुई कन्या का नया नामकरण करता है–दामिनी। अब दामिनी और मेघ दोनों साथ–साथ हैं। निबंध का अंत होते–होते मेघ दामिनी का वास्तविक परिचय देना चाहता है कि आखिर यह दामिनी कौन है। मेघ दामिनी पर मुग्ध है, यह पूरे निबंध में स्पष्ट है। यहाँ मेघ जब दामिनी का नया परिचय देता है, तब इस पूरे निबंध का अर्थ बदल जाता है।

सरलार्थ एवं व्याख्या – सहज आत्मीयता और अपनत्व से मेघ अपना परिचय देता है– मैं। यह निबंध का प्रस्तुतकर्ता है। इसके साथ है 'वह' अर्थात् दामिनी। इस तरह मेघ और दामिनी अर्थात् बादल और बिजली दोनों सारी रात भटकते रहे– निरुद्देश्य चलने को हम भटकना कहते हैं। निरुद्देश्य भटकने की अपनी मस्ती और सौन्दर्य भी है। ये दोनों मणिपुर की तराई में भटकते रहे, जहाँ अगरु वन, चंदन वन और देवदारु के वन हैं। अब मेघ स्वयं ही प्रश्न करता है कि यह दामिनी है कौन ? पाठक को भी जिज्ञासा हो सकती है। लेखक के मन में भी चाहत हो सकती है कि 'मेघ' काबुई कन्या दामिनी के अर्थ–संदर्भ का उद्घाटन करे। यह दामिनी रानियों जैसी सुन्दर है और साथ ही उसके व्यक्तित्व में दीप्तिमान आभा है। यह काबुई कन्या है, परन्तु यह दरअसल कवि गोत्रीय कन्या है, अर्थात् कवि ने इसे जन्म दिया है। अर्थात् इस निबंध में प्रस्तोता मेघ और रचनाकार ने ही उसे रचा है। इसीलिए वह कवि गोत्रीय कन्या है। उस कन्या का कोई लौकिक–सामाजिक गोत्र या पहचान नहीं है। वह जो भी है मेघ की बंधु है, मित्र है। यहाँ मेघ के व्याज से लेखक स्पष्ट करता है कि इससे ज्यादा जानने के पाठक न तो अधिकारी हैं और न इसकी आवश्यकता है। लेकिन फिर भी मेघ अंततः इस रहस्य का उद्घाटन करना चाहता है।

इस प्रक्रिया में ज्यों ही वह दामिनी की चर्चा करने लगता है, उसके सौन्दर्य पर पुनः मुग्ध हो जाता है। वह नृत्य की तरंगों में लहराती हुई देहवाली सूर्य के समान तेजवान चेहरे वाली कन्या, जिसे मेघ ने आत्मीयता से देशज शब्द 'छोकरी' के रूप में संबोधित किया है, वह और कोई नहीं है, वास्तविक लोक की कन्या तो वह है ही नहीं। अपितु मेघ के हृदय में छिपे 'वज्र' का ही रूपांतरण है। मेघ ने ही उसे रूपांतरित होने दिया है। मेघ सत्य का उद्घाटन करते हुए स्पष्ट करता है कि वह मेरे हृदय में छिपे हुए स्फटिक रूप का वज्र है जो मणिपुर के इस गंधर्व लोक में आकर सौम्य–कांत शरीर धारण करके सामने आ गया है। अर्थात् मणिपुर की भूमि ने 'वज्र' को भी सुकुमार सौम्य और कांतियुक्त बना दिया है।

15.7 सारांश

मणिपुर पूर्वोत्तर भारत का एक राज्य है। इतिहासकारों का मत है कि मणिपुर में 'कूकी चीन' नागाओं के वंशज रहते हैं। ये अपने आपको 'मेथेई' कहते हैं, जिसका अर्थ होता है, भिन्न जन'। मेथेई जाति में किरात के अलावा अन्य जातियों का मिश्रण होने से यह

संज्ञा उत्पन्न हुई। प्राचीन आर्यों ने इसे गंधर्वलोक, यक्षलोक, अप्सरा भूमि, कदली वन आदि नामों से संबोधित किया है। समाज व्यवस्था की दृष्टि से इसे 'नारी राज्य' कहा जाता रहा है, क्योंकि यहाँ पुरुष की तुलना में नारी का प्राधान्य है। ऐसा माना जाता है कि यहाँ पहले पानी ही पानी था, धरती नहीं थी। फिर किसी प्राकृतिक घटना के कारण यह पानी नदियों के रूप में बह गया और यहाँ 'सुवर्ण भूमि' प्रकट हुई।

इस घटना की पौराणिक व्याख्या करते हुए लेखक ने लिखा कि यहाँ महादेव और पार्वती नृत्य के लिए आए थे। जब यहाँ धरती नहीं दिखी तब महादेव ने त्रिशूल से आघात किया और यह भूमि प्रकट हुई। इस तरह मणिपुर के साहित्य–संस्कृति पर भगवान शिव का प्रभाव है। बाद में आर्यों के आगमन से इसकी संस्कृति में परिवर्तन हुआ। यहाँ का नृत्य और संगीत कोमल भावों से अनुप्रेरित है। यहाँ की मिट्टी कृषि के लिए उपयुक्त नहीं है। इस मिट्टी में पेड़, पौधे, लता अपने आप उग जाते हैं। इसलिए यहाँ घने वन हैं। इस संपूर्ण संपदा का वर्णन करने के लिए लेखक ने मेघ और दामिनी की कल्पना की। दामिनी को पहले एक काबुई कन्या बताया गया, बाद में बताया गया कि यह तो कवि कन्या ही है जिसे मेघ के रूपान्तरित 'वज्र' से किया गया है। इस तरह निबंध में कई ऐतिहासिक, पौराणिक और मिथकीय संदर्भों को जोड़कर इस निबंध की रचना की गई है। इन्हीं संदर्भों के अनुरूप निबंध की भाषा का गठन भी किया गया है। भाषा तत्सम, तथा तद्भव तथा स्थानीय शब्दों से परिपूर्ण है।

15.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. (क) मेघ, (ख) काबुई कन्या, (ग) शेषनाग
2. (1) पेड़–पौधों, (2) 9, (3) शिव
3. (क) (×) , (ख) (√) , (ग) (√)
4. (क) (√) , (ख) (×), (ग) (×)
5. (क) उस समय मेघ ने रसिया छैल–छबीला का वेश धारण किया था।

   (ख) कुबेरनाथ राय के अनुसार भारत का पुराना नाम यज्ञ–भूमि था।

   (ग) इस नृत्य में 'प्रकाश की व्यवस्था' शेषनाग ने की थी।
6. (क) गुप्तचर, (ख) काबुई कन्या, (ग) मेथेई।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

परिशिष्ट

व्याख्या हेतु निर्धारित गद्यांश

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

त्याग–पत्र (जैनेन्द्र कुमार)

1. पिताजी उनको बड़ा स्नेह करते थे। उनकी सभी इच्छाएँ वह पूरी करते। पिता का यह स्नेह उन्हें बिगाड़ न दे, इस बात का मेरी माता को खासा खयाल रहता था। वह अपने अनुशासन में सावधान थीं। मेरी बुआ को कम प्रेम करती थीं, यह तो किसी हालत में नहीं कहा जा सकता। पर आर्य गृहिणी का जो उनके मन में आदर्श था, मेरी बुआ को वे ठीक उसी के अनुरूप ढालना चाहती थीं।

   बुआ का तब का रूप सोचता हूँ तो दंग रह जाता हूँ। ऐसा रूप कब किसी को विधाता देता है। जब देता है तब कदाचित् उसकी कीमत भी वसूल कर लेने की मन–ही–मन नीयत उसकी रहती है। पिताजी तो बुआ की मोहिनी सूरत पर रीझ–रीझ जाते थे। खैर उस बात को छोड़ें। मेरी और बुआ की बहुत बनती थी। वह शहर के बड़े स्कूल में बग्घी में पढ़ने जाती थीं और घर आकर जो नई शरारतें वहाँ होतीं अकेले में सब मुझको सुनाती थीं। 'आज मास्टरनी जी को ऐसा छकाया, ऐसा छकाया, कि प्रमोद, तुझे क्या बताऊँ।' कहकर वह ऐसा ठहाका मारकर हँसती कि मैं देखता रह जाता। उस समय मुझे कहानी की परियों का ध्यान हो आता और मैं मुग्ध भाव से अपनी बुआ की ओर आकृष्ट हो रहता।

2. सच कहूँ, प्रमोद, मुझे कुछ भी चोट नहीं लगी। मैं उनकी उस आँख की तरफ देख रही थी। मास्टर जी मुझे देख रहे थे, पर वह आँख जाने कहाँ देख रही थी। अरे प्रमोद, तू उन मास्टर को एक बार तो जरूर ही देख। फिर मास्टर जी ने चिल्लाकर कहा– 'अब तो नहीं करेगी।' मैं चुपचाप खड़ी रही और सोचती रही कि एक बार तो मैं भी सचमुच का कसूर करके देखूँगी। मास्टर जी ने चिल्लाकर कहा– 'जाओ।' मैं अपनी जगह पर आ गई। शीला मेरे पास बैठती है। वह मुझे ऐसे देखने लगी जैसे–खा जाएगी। मैंने कहा– 'दुर, पगली।'उसने एक हाथ से मेरे हाथ को को वहीं डेस्क पर रक्खे रक्खे दबाया। उसकी आँखें बहुत फैली हुई थीं। शीला बड़ी पगली लड़की है।

3. मेरी कुछ भी समझ में न आ रहा था। मैं सकपकाया–सा खड़ा था। थोड़ी देर बाद मैं साहसपूर्वक उस कोठरी में गया। देखता क्या हूँ कि वहाँ बुआ औंधी पड़ी हैं। उनकी साड़ी इधर उधर हो गई है और बदन का कपड़ा बेहद मार से झीना हो गया है। जगह–जगह नील उभर आये हैं। कहीं–कहीं लहू भी छलक आया है। बुआ गुम–सुम पड़ी हैं। न रोती हैं, न सुबकती हैं। बाल बिखरे हैं और धरती पर पड़ी दोनों बाहों पर माथा टिका है। मुझे वहाँ थोड़ी देर खड़ा रहना भी असह्य हो गया। मुझसे कुछ भी नहीं बोला गया। बुआ के गले से लगकर मैं वहाँ थोड़ा रो लेता तो ठीक होता। पर वह संभव न हुआ। मैं दबे पाँव लौट आया।

   वह दिन था कि फिर बुआ की हँसी मैंने नहीं देखी। इसके पाँच–छह महीने बाद बुआ का ब्याह हो गया। मैंने जल्दी–जल्दी तत्परता के साथ सब व्यवस्था कर दी। बुआ का उसी दिन से पढ़ना छूट गया था। वह उस दिन से सीने–पिरोने, झाड़ने–बुहारने और इसी तरह के और कामों में शांत भाव

से लगी रहती थीं। काम करते रहने के अतिरिक्त उन्हें और किसी बात से मतलब न था।

4. घर आकर मैंने पत्र सीधा बुआ को दे दिया और वह उसको खोलकर तभी पढ़ने में लग गई। खत बड़ा नहीं था। लेकिन कई मिनट तक वह उसे पढ़ती रहीं। यह भी भूल गई कि प्रमोद भी उनका कोई है और इस वक्त वह पास ही खड़ा है। काफ़ी देर के बाद उन्होंने वहाँ से आँख हटाई, खत को धीमे–धीमे तह किया और मुझको देखा– मानो उस वक्त मुझे वह पहचान नहीं रही थीं। मानों सब भूल गईं कि क्या था, क्या है, क्या होगा। फिर उसी बेबूझ भाव से मुझे देखते रहकर मानो यंत्र की भाँति उस खत को फाड़कर नन्हें–नन्हें टुकड़ों में कर दिया। मानों वह कुछ नहीं कर रहीं, जाने कौन करा रहा है। हलके–हलके चैतन्य उन्हें लौटा। मानो उन्होंने अब कुछ–कुछ जगत् को पहचाना।

5. लेकिन जिस आसानी से मैंने 'बस' कह दिया वैसी सरल बात नहीं थी, यह मैं आज खूब अच्छी तरह जानता हूँ। विवाह की ग्रंथि के बीच की ही ग्रंथि नहीं है, वह समाज के बीच की भी है। चाहने से ही वह क्या टूटती है ? विवाह भावुकता का प्रश्न नहीं, व्यवस्था का प्रश्न है। वह प्रश्न क्या यों टाले टल सकता है ? वह गाँठ है जो बँधी कि खुल नहीं सकती, टूटे तो टूट भले ही जाए। लेकिन टूटना कब किसका श्रेयस्कर है ? पर आठवीं क्लास का विद्यार्थी मैं यह सब नहीं जानता था। इसलिए उस समय अति–संपूर्ण भाव से मैंने बुआ को आश्वासन दे दिया कि वह सदा इसी घर में रहेंगी। देखूँ कौन फूफा होते है जो ले जाएँ। ऐसा मन न करो, बुआ। फ़िकर क्या है। यह प्रमोद बड़ा होकर खूब कमाएगा और तुम्हारी खूब सेवा करेगा और तुम्हें कुछ कष्ट न होने देगा।

6. मैं आठवीं क्लास में पढ़ता था। तब मैं क्या समझता हूँगा, क्या नहीं समझता हूँगा। फिर भी वह बातें मुझे बिल्कुल अच्छी नहीं मालूम हो रही थीं। जी मैं कुछ बेमतलब गुस्सा चढ़ता आता था। जी होता था कि वहीं के वहीं कोई दुस्सह अविनय कर डालूँ। ऐसे भाव की कोई वजह न थी, पर बाबू जी की कुछ दबी हुई स्थिति की झलक उनके चेहरे पर देखकर बड़ी खीझ मालूम हो रही थी। पर जाने मुझे क्या चीज रोक रही थी कि मैं फट नहीं पड़ा।

7. बहुत कुछ जो इस दुनिया में हो रहा हे वह वैसा ही क्यों होता है, अन्यथा क्यों नहीं होता– इसका क्या उत्तर है ? उत्तर हो अथवा न हो, पर जान पड़ता है भवितव्य ही होता है। नियति का लेख बँधा है। एक भी अक्षर उसका यहाँ से वहाँ न हो सकेगा। वह बदलता नहीं, बदलेगा नहीं। पर विधि का वह अतर्क्य लेख किस विधाता ने बनाया है, उसका उसमें क्या प्रयोजन है– यह भी कभी पूछकर जानने की इच्छा की जा सकती है, या नहीं।

   शायद नहीं। ज्ञानी जन कह गये हैं कि परम कल्याणमय ही इस सृष्टि में अपनी परम लीला का विस्तार कर रहा है। मैं मान लेता हूँ कि ऐसा ही है। न मानूँ तो जीऊँ कैसे ? पर रह–रहकर जी होता है कि पुकार कर कहूँ कि हे! परम कल्यामणमय, तेरी कल्याणी लीला को मैं नहीं जानता हूँ।

8. जिन्दगी है, चलती जाती है। कौन किसके लिए थमता है! मरते हुए मर जाते हैं, लेकिन जिनको जीना है वे तो मुर्दों को लेकर वक्त से पहिले मर नहीं सकते। गिरते के साथ कोई गिरता है? यह तो चक्कर है। गिरता गिरे, उसे उठाने की सोचने में तुम लगे कि पिछड़े। इससे चले चलो। पर इस चलाचली के चक्कर में अकस्मात् मुझे और भी पता लगा। वह यह कि अब बुआ उस जगह नहीं है, वहाँ से (अमुक) नगर चली आई है। कोइले की दुकान करने वाला एक बनिया साथ है। वह (अमुक) नगर जहाँ हम रहते थे, उससे दूर नहीं था। बुआ उसी के एक कोने में आ टिकी होंगी, यह बात एकदम बहुत आश्चर्यजनक और असंभव–सी लगी।

इसके थोड़े दिनों बाद पिताजी का देहांत हो गया। अब हम जरा संकुचित भाव से रहने लगे। क्योंकि माँ बहुत सोच–विचारवाली थीं। झूठी शान से बचती थीं और मेरे बारे में ऊँचीं आशाएँ रखती थीं। इस बीच मैं एफ.ए.कर चुका ही था, थर्ड ईयर में पढ़ता था। यूनिवर्सिटी जा रहा था कि उस नगर के स्टेशन का बोर्ड देखकर एकाएक मन में संकल्प–सा उठने लगा। सोचा कि अभी तो नहीं, पर लौटते हुए, अकेले में जरूर यहाँ उतरना होगा। मैं बुआ को ढूँढ़ निकालूँगा और कहूँगा– बुआ तुम! यह तुम्हारा क्या हाल है? चलो, यहाँ से चलो।

9. ''जरूर ले चलेगा, तो सुन। मैं नहीं जाऊँगी, मैं नहीं जा सकती। तुम मुझको नहीं जानते हो। मैं पति के घर को छोड़कर आ गई हूँ। पति है, पर दूसरे पुरुष के आसरे रह रही हूँ, उसके साथ रह रही हूँ। तुम न जानो, मैं यह जानती हूँ। तुम अपनी आँखें ढँक लो, लेकिन मुझसे अपना यह सारा पातक निगल जाने को नहीं कह सकते। फिर जिनका साथ लेकर पति को छोड़ आई हूँ उनको मैं छोड़ दूँ? उन्होंने मेरे लिए क्या नहीं त्यागा ? उनकी करुणा पर मैं बची हूँ मैं मर सकती थी, लेकिन मैं नहीं मरी। मरने को अधर्म जानकर ही मैं मरने से बच गई। किसके सहारे मैं उस मृत्यु के अधर्म से बची ? जिनके सहारे मैं बची, उन्हीं को छोड़ देने की मुझसे कहते हो ? मैं नहीं छोड़ सकती। पापिनी हो सकती हूँ, पर उसके ऊपर क्या अकृतज्ञ भी बनूँ ? नहीं। प्रमोद, तुम सब लोग मुझे मरा हुआ क्यों नहीं मान लेते हो ? क्यों मुझे तंग करते हो ?''

10. उस दिन से तुम्हारे फूफा मुझसे किनारा करते चले गये। मुझे तो अब नाराज होने का भी अधिकार न था। उन्होंने मेरी परवाह करनी छोड़ दी। मैं इस योग्य थी भी। उनकी परवाह का अधिकार मुझे क्या था ? काम करती थी और जो मिलता उससे पेट भरकर पड़ी रहती थी पर मुझे ऐसा लगा कि उनकी आँखों में अब भी मैं काँटा हूँ। इसकी वजह भी मुझे दीखी कि मेरी उपस्थिति उनको खटके। यह देखकर मैंने एक रोज उनसे जाकर कह दिया कि मुझे आप चाहें तो घर में से दूर कर सकते हैं। उन्होंने कहा– 'हाँ जाओ। अपने मैके चली जाओ।' मैंने कहा–'वहाँ से तो मैं कट कर आ गई हूँ। आपकी खुशी से तो मैं वहाँ जा सकती हूँ, आपकी नाराजी में वहाँ जाना मेरा धर्म नहीं है।'' उन्होंने कहा कि ''फिर जो चाहे कर, जहाँ चाहे जा।'' मैंने पूछा–''कहाँ जाऊँ, क्या करूँ'' उन्होंने कहा कि ''जान न खा, चल दूर हो।'' उसके बाद फिर कुछ दिन बीत गये। मैं उनके राह की बाधा थी। एक दिन उन्होंने एकदम आकर कहा–''चल, निकल यहाँ से।'' मैंने आज्ञा न

मानने की जिद नहीं की। मुझे वहीं शहर में एक दूर कोठरी में लाकर वह खुद ही छोड़ गये। साथ की जरूरी चीज वस्तु भी उन्होंने लाकर दे दी थी। यह कुल कहानी है।

11. जब वहाँ कोठरी में अकेली थी, तब मरी क्यों नहीं, क्या यह जानते हो ? मैंने सोचा था और चाहा था कि मैं मर ही जाऊँगी। ऐसे जीने में क्या है। लेकिन एकाएक मुझको पता लग आया कि जिसने जीवन दिया है, मौत भी उसी की दी हुई मैं ले सकती हूँ। अन्यथा अपने अहंकार के वश मरने वाली मैं कौन होती हूँ। भूख से मरना पड़े तो मैं मर भी जाऊँ, पर सोच–विचार–कर अपघात कैसे कर सकती हूँ। ऐसे समय भूख के तीसरे रोज इसी आदमी ने खतरा उठाकर मुझे पूछा था। उस आदमी के वो पूछने में क्या बुराई थी ? शायद मेरे रूपका लोभ तो उसे था, लेकिन उसके लिए मैं उसे दोष क्यों देती। वह विघ्नों की तरफ अंधा होकर मेरे पास आया। उसका अपना परिवार था, मेली–जोली थे। उनकी ओर से लापर्वाह होकर ताने और धमकी सहकर, पहले चोरी फिर उजागर, उसने मुझे सहायता दी। उसकी चोरी में मेरा भाग न था। और सहायता और कुछ नहीं– यही कि कोइला ला दिया, सीधा लाकर रख दिया और ढारस की दो–एक बातें कह दी। मौत से तो मुँह मोड़ ही लिया था। पर उधर से मुँह मोड़कर जीने के संकल्पना की ओर उन्मुख हुई, तभी सामने इस आदमी की सहायता आ गई।

12. मैं वहाँ सो नहीं सका। मेरा मन बहुत घबराने लगा। जो कहानी सुनी है उसे कैसे लूँ, कैसे झेलूँ ? मन से वह सँभाली नहीं जाती थी। इलाज यही था कि मैं उससे बचकर चला जाऊँ। उसी अपनी दुनिया में जहाँ वस्तुओं का मान बँधा हुआ है और कोई झमेला नहीं है। जहाँ रास्ता बना–बनाया है और खुद को खोजने की जरूरत नहीं है। जिज्ञासा जहाँ शांत है और प्रश्न अवज्ञा का द्योतक है।

इन बुआ का मैं क्या बनाऊँ ? उनकी इस कोठरी में मैं अपना ही क्या बनाऊँ ? यहाँ सब कुछ उलट–पुलट गया मालूम होता है।

13. मैंने बीच में बात काटकर कहा– अब न आऊँगा। ''नहीं आना चाहिए। मैं तो तुमको अपनी ओर से भी यही समझाने वाली थी। जो समाज में हैं, समाज की प्रतिष्ठा कायम रखने का जिम्मा भी उनपर है। वह उनका कर्तव्य है। जो उसके उच्छिष्ट हैं या उच्छिष्ट बनना पसंद कर सकते हैं, उन्हीं को जीवन के साथ नये प्रयोग करने की छूट हो सकती है। प्रमोद, यह बात तो ठीक है कि सत्य को सदा नये प्रयोगों की अपेक्षा है। लेकिन उन प्रयोगों में उन्हीं को पड़ना और डालना चाहिए जिनकी जानकी अधिक समाज दर नहीं रह गई है–''

मैं अंडर ग्रेजुएट उनकी कुछ भी बात नहीं समझ सका। आज वे बातें मुझें याद आती हैं। और मुझे निश्चय हो गया है कि सचमुच जो शास्त्र से नहीं मिलता वह ज्ञान–आत्म–व्यथा में से मिल जाता है। नहीं तो इतने गंभीर जीवन–तथ्य को इस स्वाभाविकता से वश में करने और व्यक्त करने के बुआ के अधिकार का और भेद क्या हो सकता है।

14. ''प्रमोद, सहायता की मैं भूखी नहीं हूँ। तुझसे ही वह सहायता न लूँगी तो किससे लूँगी। लेकिन सहायता का हाथ देकर क्या मुझे यहाँ से उठाकर ऊँचे वर्ग में जा बिठाने की इच्छा है तो भाई, मुझे माफ कर दो। वैसी मेरी अभिलाषा नहीं है। सहायता मुझे इसलिए चाहिए कि मेरा मन पक्का होता रहे कि कोई मुझे कुचले, तो भी मैं कुचली न जाऊँ और इतनी जीवित रहूँ कि उसके पाप के बोझ को भी ले लूँ और सबके लिए क्षमा की प्रार्थना करूँ। प्रतिष्ठा मुझे क्यों चाहिए। मुझे तो जो मिलता है उसी के भीतर सांत्वना पाने की शक्ति चाहिए–''

उस समय तो मैं उनके शब्दों को कुछ नहीं समझा था और मैंने जवाब में धीमे से कहा था– मैं जाऊँ ?

उन्होंने कहा– हाँ, जाना हो तो जाओ और सुखी रहो।

जाते–जाते मैंने मन को बहुत बड़ा करके कहा– कुछ जरूरत हो तो लिखना।

बुआ ने हँसकर कहा– हाँ लिखूँगी।

15. बुआ ने कहा– झूठ तो, भाई, आज यह है कि मैं तेरी कोई भी हूँ। बता, मैं आज तेरी कोई क्या हूँ ? कभी यह सत्य था कि मैं तेरी बुआ थी, पर उस बात को तो मैंने अपने हाथों से अच्छी तरह तोड़–ताड़कर धूल में फटक दिया है। धूल में से उठाकर, उसी के निर्जीव, छूछे पिंजर को तू हठपूर्वक सामने लाकर सत्य कहना चाहता है, यही झूठ है। मैं कहती हूँ, प्रमोद, मुझे मेरे भाग्य पर छोड़। जा, जा, अब भी यहाँ मत ठहर। देर तक यहाँ रहेगा तो ठीक न होगा।

उस समय भीतर ही भीतर सचमुच मुझे भी यह मालूम हो रहा था कि यहाँ देर तक मेरा रहना ठीक न होगा, लोग जाने क्या समझें। मैं आज इसी पर आश्चर्य किया करता हूँ कि 'लोग क्या समझेंगे', इसका बोझ अपने ऊपर लेकर हम क्यों अपनी चालाकी को सीधा नहीं रखते हैं, क्यों उसे तिरछा आड़ा बनाने की कोशिश करते हैं। लोगों के अपने मुँह है, अपनी समझ के अनुसार वे कुछ–कुछ क्यों न कहेंगे ? इसमें उनको क्या बाधा है, उनपर किसी का क्या आरोप हो सकता है ? फिर भी उस सबका बोझ आदमी अपने ऊपर स्वीकार कर अपने भीतर के सत्य को अस्वीकार करता है– यह उसकी कैसी भारी मूर्खता है।

16. यहाँ किसी को कहने का लोभ नहीं है कि मैं सच्चरित्र हूँ। यहाँ सच्चरित्रता के अर्थ में मानव का मूल्य नहीं जाना जाता। दुर्जनता ही मानो कीमती है। यहाँ उसी हिसाब से मानव की घट–बढ़ कीमत है। मैं मानती हूँ कि यही रोग है, यही भयानक जड़ता है। किन्तु यही लाभदायक भी है। इस जगह आकर यह असंभव है कि कोई अपने को सच्चरित्र दिखाए, दिखाना चाहे, या दिखा सके। यहाँ सदाचार का कुछ मूल्य ही नहीं है, अपेक्षा ही नहीं है। बल्कि ऋण मूल्य है। अगर कहीं भीतर, बहुत भीतर मज्जातक में छिपा पशुता का कीड़ा है तो यहाँ वह ऊपर आ रहेगा। यहाँ छल असंभव है, जो छल कि सभ्य समाज में जरूरी ही है।

17. प्रमोद, तुम नहीं समझोगे। पर तुम न आओ तो ही अच्छा हो। तुम्हारा स्वभाव कोमल है। तुम ऊँचे विचारों में हो। यहाँ कोमलता और उच्चता नहीं है। यहाँ गंदगी और जड़ता है। मैं उसमें साँस लेकर रह लेती हूँ, क्योंकि आदी हो गई हूँ। हो सकता है कि मन की उच्च और कोमल वृत्तियाँ भी मेरी मंद पड़ गई हों। जो हो, पर तुम न आओ तो ही भला है। तुम्हारा प्रेम खोना मुझे असह्य होगा। अगर अब भद्र वर्ग के लोगों में से मैं किसी को जानती हूँ तो तुम्हें जानती हूँ। न अब मुझे ही कोई जानता है। पर तुम्हारे अकेले के कारण मैं उस तमाम भद्र वर्ग को अप्रेम करने से बची हुई हूँ। प्रमोद, तुम नहीं जानते अनजाने में तुम मेरी आत्मा का यह कितना बड़ा उपकार कर रहे हो। जिस समाज में तुम हो, क्या तुम्हारे रहते मैं मन में उसके लिए तिरस्कार भी ला सकती हूँ?

18. आज इस सारी वकालत के पैसे और बुद्धिमत्ता की प्रतिष्ठा के ऊपर बैठकर सोचता हूँ कि क्यों मुझसे तनिक मूर्ख नहीं बना गया ? इस सब रुपये को और प्रतिष्ठा को अब मैं पेट से बाँधकर कहाँ ले जाऊँ? इस सबका मैं क्या करूँ, जब कि समय पर प्रेम के प्रतिदान से मैं चूक गया। यह सब मैल है जो मैंने बटोरा है। मैल है कि मेरी आत्मा की ज्योति को ढँक रहा है। मैं वह सब नहीं चाहता हूँ।

उस बात को सत्रह से कुछ ऊपर ही वर्ष हो गये हैं। आज महाश्चर्य और महासंताप का विषय मेरे लिए यह है कि किस अमानुषिकता के साथ ये सत्रह के सत्रह वर्ष मैं बुआ को बिना देखे काट गया! वह बुआ जिन्होंने बिना लिये दिया, जिन्होंने कुछ किया, मुझे प्रेम ही किया। जिनकी याद मेरे भीतर अब अँगार–सी जलती है। जिनका जीवन कुछ ही ऊपर उठती लौ की भाँति जलता रहा। धुआँ उठा तो उठा पर लौ प्रकाशित रही। उन्हीं बुआ को एक तरफ डालकर किस भाँति अपनी प्रतारणा करता रहा ?

कहानियाँ

नमक का दारोगा (प्रेमचंद)

1. जब नमक का नया विभाग बना और ईश्वर प्रदत्त वस्तु के व्यवहार करने का निषेध हो गया तो लोग चोरी–छिपे इसका व्यापार करने लगे। अनेक प्रकार के छल–प्रपंचों का सूत्रपात हुआ, कोई घूस से काम निकालता था, कोई चालाकी से। अधिकारियों के पौ–बारह थे। पटवारीगीरी का सर्वसम्मानित पद छोड़–छोड़ कर लोग इस विभाग की बरकदाजी करते थे। इसके दारोगा पद के लिए वकीलों का भी जी ललचाता था। यह वह समय था, जब अंग्रेजी शिक्षा और ईसाई मत को लोग एक ही वस्तु समझते थे। फारसी का प्राबल्य था। प्रेम की कथाएँ और श्रृंगार रस के काव्य पढ़कर फारसी दां लोग सर्वोच्च पदों पर नियुक्त हो जाया करते थे।

2. मैं कगारे पर का वृक्ष हो रहा हूँ न मालूम कब गिर पड़ूँ। अब तुम्हीं घर के मालिक मुख्तार हो। नौकरी और ओहदे की ओर ध्यान मत देना, यह तो पीर का मजार है। निगाह चढ़ावे और चादर पर रखनी चहिए। ऐसा काम ढूँढ़ना जहाँ कुछ ऊपरी आय हो। मासिक वेतन तो पूर्णमासी का चाँद है, जो एक दिन दिखाई देता है और घटते–घटते लुप्त हो जाता है, ऊपरी आय बहता हुआ स्रोत है जिससे सदैव प्यास बुझती है। वेतन मनुष्य देता है, इसी से उसमें वृद्धि नहीं होती। ऊपरी आमदनी ईश्वर देता है, उसी से उसकी बरकत होती है, तुम स्वयं विद्वान हो तुम्हें क्या समझाऊँ। इस विषय में विवेक की बड़ी आवश्यकता है। मनुष्य को देखो, उसकी आवश्यकता को देखा और अवसर देखो, उसके उपरांत जो उचित समझो, करो। गरजवाले आदमी के साथ कठोरता करने में लाभ ही लाभ है। लेकिन बेगरज को दाँव कर पाना जरा कठिन है। इन बातों को निगाह में बाँध लो। यह मेरी जन्म भर की कमाई है।

3. वंशीधर आज्ञाकारी पुत्र थे। ये बातें ध्यान से सुनीं और तब घर से चल खड़े हुए। इस विस्तृत संसार में उनके लिए धैर्य अपना मित्र, बुद्धि अपनी पथप्रदर्शक और आत्मावलम्बन ही अपना सहायक था। लेकिन अच्छे शकुन से चले थे, जाते ही जाते नमक विभाग के दारोगा पद पर प्रतिष्ठित हो गये। वेतन अच्छा और ऊपरी आय का तो ठिकाना ही न था। वृद्ध मुंशी जी को सुख–संवाद मिला तो फूले न समाये। महाजन कुछ नरम पड़े। कलवार की आशालता लहलहाई। पड़ोसियों के हृदय में शूल उठने लगे।

4. पंडित अलोपीदीन का लक्ष्मी जी पर अखंड विश्वास था। वह कहा करते थे कि संसार का तो कहना ही क्या, स्वर्ग में भी लक्ष्मी का ही राज्य है। उनका यह कहना यथार्थ ही था। न्याय और नीति सब लक्ष्मी के ही खिलौने हैं, इन्हें वह जैसे चाहती हैं नचाती है। लेटे ही लेटे गर्व से बोले, चलो हम आते हैं। यह कह कर पंडित जी ने बड़ी निश्चिन्तता से पान के बीड़े लगा कर खाये।

5. पं. अलोपीदीन ने हँस कर कहा, हम सरकारी हुक्म को नहीं जानते और न सरकार को। हमारे सरकार तो आप ही हैं। हमारा और आपका तो घर का मामला है, हम कभी आपसे बाहर हो सकते हैं ? आपने व्यर्थ का कष्ट उठाया। यह हो ही नहीं सकता कि इधर से जाएँ और इस बाट के देवता को भेंट न

चढ़ावें। मैं तो आपकी सेवा में स्वयं ही आ रहा था। वंशीधर पर ऐश्वर्य की मोहिनी वंशी का कुछ प्रभाव न पड़ा। ईमानदारी की नई उमंग थी। कड़क कर बोले, हम उन नमकहरामों में नहीं हैं जो कौड़ियों पर अपना ईमान बेचते फिरते हैं। आप इस समय हिरासत में हैं। आपका कायदे के अनुसार चालान होगा। बस, मुझे अधिक बातों की फुर्सत नहीं है।

6. दुनिया सोती थी पर दुनिया की जीभ जागती थी। सबेरे देखिए तो बालक वृद्ध सब के मुँह से यही बात सुनायी देती थी। जिसे देखिए वही पंडित जी के इस व्यवहार पर टीका–टिप्पणी कर रहा था, निंदा की बौछारें हो रही थीं, मानों संसार से अब पापी का पाप कट गया। पानी को दूध के नाम से बेचने वाला ग्वाला, कल्पित रोजनामचे भरने वाले अधिकारी वर्ग, रेल में बिना टिकट सफर करने वाले बाबू लोग, जाली दस्तावेज बनानेवाले सेठ और साहूकार यह सब के सब देवताओं की भाँति गर्दन चला रहे थे। जब दूसरे दिन पंडित अलोपीदीन अभियुक्त हो कर कांस्टबेलों के साथ, हाथों में हथकड़ियाँ, हृदय में ग्लानि और क्षोभ भरे, लज्जा से गर्दन झुकाये अदालत की तरफ चले तो सारे शहर में हलचल मच गई। मेलों में कदाचित् आँखें इतनी व्यग्र न होती होंगी। भीड़ के मारे छत और दीवार में कोई भेद न रहा।

7. सभी लोग विस्मित हो रहे थे। इसलिए नहीं कि अलोपीदीन ने क्यों यह कर्म किया ? बल्कि इसलिए कि वह कानून के पंजे में कैसे आये। ऐसा मनुष्य जिसके पास असाध्य साधन करने वाला धन और अनन्य वाचालता हो, वह क्यों कानून के पंजे में आये। प्रत्येक मनुष्य उनसे सहानुभूति प्रकट करता था। बड़ी तत्परता से इस आक्रमण को रोकने के निमित्त वकीलों की एक सेना तैयार की गई। न्याय के मैदान में धर्म और धन युद्ध ठन गया। वंशीधर चुपचाप खड़े थे। उनके पास सत्य के सिवा न कोई बल था, न स्पष्ट भाषण के अतिरिक्त कोई शस्त्र, गवाह थे, किंतु लोभ से डावाँडोल।

8. जहाँ पक्षपात हो, वहाँ न्याय की कल्पना भी नहीं की जा सकती। मुकदमा शीघ्र ही समाप्त हो गया। डिप्टी मजिस्ट्रेट ने अपनी तजवीज में लिखा, पंडित अलोपीदीन के विरुद्ध दिए गए प्रमाण निर्मूल और भ्रमात्मक है। वह एक बड़े भारी आदमी हैं। यह बात कल्पना के बाहर है कि उन्होंने थोड़े माल के लिए ऐसा दुस्साहस किया हो। यद्यपि नमक के दारोगा मुंशी वंशीधर का अधिक दोष नहीं, लेकिन यह बड़े खेदकी बात है कि उनकी उद्दंडता और विचारहीनता के कारण एक भलेमानुस को कष्ट झेलना पड़ा। हम प्रसन्न हैं कि वह अपने काम में सजग और सचेत रहता है, किंतु नमक से मुहकमे को बढ़ी हुई नमकहलाली ने उसके विवेक और बुद्धि को भ्रष्ट कर दिया। भविष्य में उसे होशियार रहना चाहिए।

9. वंशीधर ने धन से बैर मोल लिया था, उसका मूल्य चुकाना अनिवार्य था। कठिनता से एक सप्ताह बीता होगा कि मुअत्तली का परवाना आ पहुँचा। कार्यपरायणता का दंड मिला। बेचारे भग्न हृदय, शोक और खेद से व्यथित घर को चले। बूढ़े मुंशी जी तो पहले ही से कुड़–बुड़ा रहे थे कि चलते–चलते इस लड़के को समझाया था, लेकिन इसने एक न सुनी। सब मनमानी करता है। हम तो कलवार और कसाई के तगादे सहें, बुढ़ापे में भगत बन कर बैंठे और वहाँ बस वही सूखी तनख्वाह! हमने भी तो नौकरी की है और कोई ओहदेदार नहीं थे, लेकिन काम किया, दिल खोलकर किया और आप ईमानदार बनने चले हैं।

10 वंशीधर ने अलोपीदीन को आते देखा तो उठ कर सत्कार किया; किंतु स्वाभिमान सहित। समझ गये कि यह महाशय मुझे लज्जित करने और जलाने आये हैं। क्षमा–प्रार्थना की चेष्टा नहीं की। वरन् उन्हें अपने पिता की यह ठकुरसुहाती की बात असहृदय–सी प्रतीत हुई। पर पंडित जी की बातें सुनी तो मन की मैल मिट गयी। पंडित जी की ओर उड़ती हुई दृष्टि से देखा। सद्भाव झलक रहा था। गर्व ने लज्जा के सामने सिर झुका दिया। शर्माते हुए बोले–यह आपकी उदारता है जो ऐसा कहते हैं। मुझसे जो कुछ अविनय हुई है उसे क्षमा कीजिए। मैं धर्म की बेड़ी में जकड़ा हुआ था, नहीं तो वैसे मैं आपका दास हूँ। जो आज्ञा होगी, वह मेरे सिर–माथे पर।

अलोपीदीन ने विनीत भाव से कहा–नदी तट पर आपने मेरी प्रार्थना नहीं स्वीकार की थी, किंतु आज स्वीकार करनी पड़ेगी।

वंशीधर बोले–मैं किस योग्य हूँ, किंतु जो कुछ सेवा मुझसे हो सकती है उसमें त्रुटि न होगी।

अलोपीदीन ने एक स्टाम्प लगा हुआ पत्र निकाला और उसे वंशीधर के सामने रखकर बोले–इस पद को स्वीकार कीजिए और अपने हस्ताक्षर कर दीजिए। मैं ब्राह्मण हूँ, जब तक यह सवाल पूरा न कीजिएगा द्वार से न हटूँगा।

11 अलोपीदीन ने कलमदान से कलम निकाली और उसे वंशीधर के हाथ में देकर बोले, न मुझे विद्वत्ता की चाह है न अनुभव की, न मर्मज्ञता की, न कार्य–कुशलता की। इन गुणों के महत्व का परिचय खूब पा चुका हूँ। अब सौभाग्य और सुअवसर ने मुझे वह मोती दे दिया है, जिसके सामने योग्यता और विद्वता की चमक फीकी पड़ जाती है। यह कलम लीजिए, अधिक सोच–विचार न कीजिए, दस्तखत कर दीजिए। परमात्मा से यही प्रार्थना है कि वह आपको सदैव वही नदी के किनारे वाला, बेमुरौवत, उद्दंड, कठोर परन्तु धर्मनिष्ठ दारोगा बनाये रखे।

THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

आकाशदीप (जयशंकर प्रसाद)

1. आपत्ति—सूचक तूर्य बजने लगा। सब सावधान होने लगे। बंदी युवक उसी तरह पड़ा रहा। किसी ने रस्सी पकड़ी कोई पाल खोल रहा था। पर युवक बंदी ढुलक कर उस रज्जु के पास पहुँचा, जो पोत से संलग्न थी। तारे ढँक गये। तरंगें उद्वेलित हुईं, समुद्र गरजने लगा। भीषण आँधी, पिशाचिनी के समान नाव को अपने हाथों में लेकर कंदुक—क्रीड़ा और अट्टहास करने लगी। एक झटके के साथ ही नाव स्वतंत्र थी। उस संकट में भी दोनों बंदी खिलखिला कर हँस पड़े। आँधी के हाहाकार में उसे कोई न सुन सका।

2. भीषण घात—प्रतिघात आरंभ हुआ। दोनों कुशल, दोनों त्वरित गतिवाले थे। बड़ी निपुणता से बुद्धगुप्त ने अपना कृपाण दाँतों से पकड़कर अपने दोनों हाथ स्वतंत्र कर लिए। चम्पा भय और विस्मय से देखने लगी। नाविक प्रसन्न हो गए। परंतु बुद्धगुप्त ने लाघव से नायक का कृपाण वाला हाथ पकड़ लिया और विकट हुंकार से दूसरा हाथ कटि में डाल, उसे गिरा दिया। दूसरे ही क्षण प्रभात की किरणें में बुद्धगुप्त का विजयी कृपाण हाथों में चमक उठा। नायक की कायर आँखें प्राण—भिक्षा माँगने लगीं।

3 पिता इसी मणिभद्र के यहाँ प्रहरी का काम करते थे। माता का देहावसान हो जाने पर मैं भी पिता के साथ नाव पर ही रहने लगी। आठ बरस से समुद्र ही मेरा घर है। तुम्हारे आक्रमण के समय मेरे पिता ने ही सात दस्युओं को मारकर जल समाधि ली। एक मास हुआ, मैं इस नील नभ के नीचे, नील जलनिधि के ऊपर, एक भयानक अनन्तता में निस्सहाय हूँ अनाथ हूँ। मणिभद्र ने मुझसे एक दिन घृणित प्रस्ताव किया। मैंने उसे गालियाँ सुनाईं। उसी दिन से बंदी बना दी गई। चम्पा रोष से जल रही थी।

   'मैं भी ताम्रलिप्ति का एक क्षत्रिय हूँ, चम्पा परन्तु दुर्भाग्य से जलदस्यु बनकर जीवन बिताता हूँ। अब तुम क्या करोगी ?''

4. ''मैं अपने अदृष्ट को अनिर्दिष्ट ही रहने दूँगी। वह जहाँ ले जाय। चम्पा की आँखें निस्सीम प्रदेश में निरुद्देश्य थीं। किसी आकांक्षा के लाल डोरे न थे। धवल अपांगों में बालकों के सदृश विश्वास था। हत्या—व्यवसायी दस्यु भी उसे देखकर काँप गया। उसके मन में एक सम्भ्रमपूर्ण श्रद्धा यौवन की पहली लहरों को जगाने लगी। समुद्र वक्ष पर विलम्बमयी राग रज्जित संध्या थिरकने लगी। चम्पा के असंयत कुंतल उसकी पीठ पर बिखरे थे। दुर्दांत दस्यु ने देखा, अपनी महिमा में अलौकिक एक तरुण बालिका वह विस्मय से अपने हृदय को टटोलने लगा। उसे एक नई वस्तु का पता चला। वह थी कोमलता!

5. सामने जलराशि का रजत शृंगार था। वरुण बालिकाओं के लिए लहरों से हीरे और नीलम की क्रीड़ा शैलमालायें बना रही थीं और वे मायाविनी छलनायें अपनी हँसी का कलनाद छोड़कर छिप जाती थीं। दूर—दूर से धीवरों का वंशी—झनकार उनके गीत सा मुखरित होता था। चम्पा ने देखा कि तरल संकुल जल राशि में उसके कण्डील का प्रतिबिम्ब अस्तव्यस्त था, वह अपनी पूर्णता के लिए सैंकड़ों चक्कर काटता था। वह अनमनी होकर उठ खड़ी हुई। किसी को पास न देखकर पुकारा ''जया।''

एक श्यामा युवती सामने आकर खड़ी हुई। वह जंगली थी। नील नभोमण्डल से मुख में शुद्ध नक्षत्रों की पंक्ति के समान उसके दाँत हँसते ही रहते। वह चम्पा को रानी कहती, बुद्धगुप्त की आज्ञा थी।

6. ''नहीं–नहीं, तुमने दस्युवृत्ति छोड़ दी; परंतु हृदय वैसा ही अकरुण, सतृष्ण और ज्वलनशील है। तुम भगवान के नाम पर हँसी उड़ाते हो। मेरे आकाशदीप पर व्यंग कर रहे हो। नाविक उस प्रचण्ड आँधी में प्रकाश की एक एक किरण के लिए हम लोग कितने व्याकुल थे। मुझे स्मरण है जब मैं छोटी थी, मेरे पिता नौकरी पर समुद्र में जाते थे मेरी माता, मिट्टी का दीपक बाँस की पिटारी में भागीरथी के तट पर बाँस के साथ ऊँचे टाँग देती थी। उस समय वह प्रार्थना करती, ''भगवान मेरे पथ भ्रष्ट नाविक को अंधकार में ठीक पथ पर ले चलना।'' और जब मेरे पिता बरसों पर लौटते तो कहते–''साध्वी तेरी प्रार्थना से भगवान् ने संकटों में मेरी रक्षा की है। ''वह गदगद हो जाती। मेरी माँ? आह नाविक यह उसी की पुण्य स्मृति है। मेरे पिता, वीर पिता की मृत्यु के निष्ठुर कारण, जलदस्यु हट जाओ।'' सहसा चम्पा का मुख क्रोध से भीषण होकर रंग बदलने लगा।

7. चम्पा और जया धीरे–धीरे उस तट पर आकर खड़ी हो गईं। तरंग से उठते हुए पवन ने उनके वसन को अस्त–व्यस्त कर दिया। जया के संकेत से एक छोटी सी नौका आई। दोनों के उस पर बैठते ही नाविक उतर गया। जया नाव खेने लगी। चम्पा मुग्ध सी समुद्र के उदास वातावरण में अपने को मिश्रित कर देना चाहती थी।

''इतना जल इतनी शीतलता हृदय की प्यास न बुझी। पी सकूँगी ? नहीं तो जैसे बेला में चोट खाकर सिंधु चिल्ला उठता है, उसी के समान रोदन करूँ ? या जलते हुए स्वर्ण गोलक सदृश अनंत जल में डूब कर बुझ जाऊँ?'' चम्पा के देखते–देखते पीड़ा और ज्वलन से आरक्त बिम्ब धीरे–धीरे सिंधु में चौथाई–आधा, फिर संपूर्ण विलीन हो गया। एक दीर्घ निश्वास लेकर चम्पा ने मुँह फेर लिया। देखा, तो महानाविक का बजरा उसके पास है। बुद्धगुप्त ने झुक कर हाथ बढ़ाया। चम्पा उसके सहारे बजरे पर चढ़ गयी। दोनों पास–पास बैठ गये।

8. ''आह चम्पा, तुम कितनी निर्दय हो! बुद्धगुप्त को आज्ञा देकर देखो तो, वह क्या नहीं कर सकता। जो तुम्हारे लिए नये द्वीप की सृष्टि कर सकता है, नई प्रजा खोज सकता है, नये राज्य बना सकता है, उसकी परीक्षा लेकर देखो तो। कहो, चम्पा! वह कृपाण से अपना हृदय पिण्ड निकाल अपने हाथों अतल जल में विसर्जन कर दें। महानाविक जिसके नाम से बाली, जावा और चम्पा का आकाश गूँजता था, पवन थर्राता था–घुटनों के बल चम्पा के समाने छलछलाई आँखों से बैठा था।

9. ''चम्पा! मैं ईश्वर को नहीं मानता, मैं पाप को नहीं मानता, मैं दया को नहीं समझ सकता, मैं उस लोक में विश्वास नहीं करता पर मुझे अपने हृदय के एक दुर्बल अंश पर श्रद्धा हो चली है। तुम न जाने कैसे एक बहकी हुई तारिका के समान मेरे शून्य में उदित हो गई हो। आलोक की एक कोमल रेखा इस निविड़तम में मुस्कराने लगी। पशु–बल और धन के उपासक के मन में किसी शांत और एकांत कामना की हँसी खिलखिलाने लगी, पर मैं न हँस सका!

10. चम्पा ने उसके हाथ पकड़ लिए। किसी आकस्मिक झटके ने एक पलभर के लिए दोनों के अधरों को मिला दिया। सहसा चैतन्य होकर चम्पा ने कहा– 'बुद्धगुप्त! मेरे लिए सब भूमि मिट्टी है, सब जल तरह है, सब पवन शीतल है। कोई विशेष आकांक्षा हृदय में अग्नि के समान प्रज्ज्वलित नहीं। सब मिलाकर मेरे लिए एक शून्य है। प्रिय नाविक! तुम स्वदेश लौट जाओ, विभवों का सुख भोगने के लिए और मुझे छोड़ दो इन निरीह भोले–भाले प्राणियों के दुख की सहानुभूति और सेवा के लिए।

''तब मैं अवश्य चला जाऊँगा, चम्पा यहाँ रहकर में अपने हृदय पर अधिकार रख सकूँ, इसमें संदेह है। आह! उन लहरों में मेरा विनाश हो जाय।'' महानाविक के उच्छ्वास में विकलता थी। फिर उसने पूछा– ''तुम अकेली यहाँ क्या कारोगी ?''

''पहले विचार था कि कभी–कभी इस द्वीप–स्तंभ पर से आलोक जला कर अपने पिता की माधि का इस जल से अन्वेषण करूँगी। किन्तु देखती हूँ, मुझे भी इसी में जलना होगा, जैसे आकाशदीप।''

वापसी (उषा प्रियवंदा)

1. गजाधर बाबू चलने को तैयार बैठे थे। रेलवे क्वार्टर का वह कमरा, जिसमें उन्होंने कितने ही वर्ष बिताए थे, उनका सामान हट जाने से कुरूप और नग्न लग रहा था। आँगन में रोपे पौधे भी जान-पहचान के लोग ले गए थे, और जगह-जगह मिट्टी बिखरी हुई थी। पर पत्नी, बाल-बच्चों के साथ रहने की कल्पना में यह बिछोह एक दुर्बल लहर की तरह उठकर विलीन हो गया।

2. गजाधर बाबू नौकरी के कारण प्रायः छोटे स्टेशनों पर रहे और उनके बच्चे और पत्नी शहर में, जिससे पढ़ाई में बाधा न हो। गजाधर बाबू स्वभाव से बहुत स्नेही व्यक्ति थे और स्नेह के आकांक्षी भी। जब परिवार साथ था, ड्यूटी से लौटकर बच्चों से हँसते-बोलते, पत्नी से कुछ मनोविनोद करते– उन सबके चले जाने से उनके जीवन में गहन सूनापन भर उठा। खाली क्षणों में उनसे घर में टिका न जाता। कवि प्रकृति के न होने पर भी, उन्हें पत्नी की स्नेहपूर्ण बातें याद रहतीं। दोपहर में, गरमी होने पर भी, दो बजे तक आग जलाए रहती और उनके स्टेशन से वापस आने पर गरम-गरम रोटियाँ सेंकती– उनके खा चुकने और मना करने पर भी थोड़ा-सा कुछ और थाली में परोस देती और बड़े प्यार से आग्रह करती। जब वह थके-हारे बाहर से आते तो उनकी आहट पर वह रसोई के द्वार पर निकल आती और उनकी सलज्ज आँखें मुस्करा उठतीं। गजाधर बाबू को तब हर छोटी बात भी याद आती और वह उदास हो उठते... अब कितने वर्षों बाद वह अवसर आया था जब वह फिर उसी स्नेह और आदर के मध्य रहने जा रहे थे।

3. गजाधर बाबू ने मुस्कराते हुए उन लोगों को देखा। फिर कहा, ''क्यों नरेन्द्र! क्या नकल हो रही थी?'' ''कुछ नहीं बाबूजी।'' नरेन्द्र ने सिटपिटाकर कहा। गजाधर बाबू ने चाहा था कि वह भी इस मनोविनोद में भाग लेते, पर उनके आते ही जैसे सब कुण्ठित हो चुप हो गए। उससे उनके मन में थोड़ी-सी खिन्नता उपज आई। बैठते हुए बोले, ''बसन्ती, चाय मुझे भी देना। तुम्हारी अम्मा की पूजा अभी चल रही है क्या?'' बसन्ती ने माँ की कोठरी की ओर देखा, ''अभी आती ही होंगी,'' और प्याले में उनके लिए चाय छानने लगी। बहू चुपचाप पहले ही चली गयी थी, अब नरेन्द्र भी चाय का आखिरी घूँट पीकर उठ खड़ा हुआ, केवल बसन्ती, पिता के लिहाज में, चौके में बैठी माँ की राह देखने लगी।

4. नाश्ता कर गजाधर बाबू बैठक में चले गए। घर छोटा था और ऐसी व्यवस्था हो चुकी थी कि उसमें गजाधर बाबू के रहने के लिए कोई स्थान न बचा था। जैसे किसी मेहमान के लिए कुछ अस्थायी प्रबंध कर दिया जाता है, उसी प्रकार बैठक में कुर्सियों को दीवार से सटाकर बीच में गजाधर बाबू के लिए पतली-सी चारपाई डाल दी गई थी—गजाधर बाबू उस कमरे में पड़े-पड़े, कभी-कभी अनायास ही इस सुस्थायित्व का अनुभव करने लगते। उन्हें याद हो आती उन रेलगाड़ियों की, जो आतीं और थोड़ी देर रुककर किसी और लक्ष्य की ओर चली जातीं।

5. जब कभी उनकी पत्नी को कोई लम्बी शिकायत करनी होती, तो अपनी चटाई बैठक में डाल पड़ जाती थीं। तो वह एक दिन चटाई लेकर आ गईं। गजाधर बाबू ने घर-गृहस्थी की बातें छेड़ीं। वह घर का रवैया देख रहे थे। बहुत हलके से उन्होंने कहा कि अब हाथ में पैसा कम रहेगा, कुछ खर्च कम होना चाहिए।

''सभी खर्च तो वाजिब-वाजिब हैं, किसका पेट काटूँ? यही जोड़-गाँठ करते-करते बूढ़ी हो गई। न मन का पहना, न ओढ़ा।''

गजाधर बाबू ने आहत, विस्मित दृष्टि से पत्नी को देखा। उनसे अपनी हैसियत छिपी न थी। उनकी पत्नी तंगी का अनुभव कर उसका उल्लेख करतीं, यह स्वाभाविक था, लेकिन उनमें सहानुभूति का पूर्ण अभाव गजाधर बाबू को बहुत खटका। उनसे यदि राय-बात की जाती कि प्रबंध कैसे हो, तो उन्हें चिन्ता कम, संतोष अधिक होता। लेकिन उनसे तो केवल शिकायत की जाती थी, जैसे परिवार की सब परेशानियों के लिए वही जिम्मेदार थे।

6. ''तुम्हें किसी बात की कमी है अमर की माँ—घर में बहू है, लड़के-बच्चे हैं, सिर्फ रुपये से ही आदमी अमीर नहीं होता।'' गजाधर बाबू ने कहा और कहने के साथ ही अनुभव किया, यह उनकी आंतरिक अभिव्यक्ति थी ऐसी कि उनकी पत्नी नहीं समझ सकतीं। 'हाँ, बड़ा सुख है न बहू से। आज रसोई करने गई है, देखो क्या होता है।'' कहकर पत्नी ने आँखें मूँदीं और सो गईं। गजाधर बाबू बैठे हुए पत्नी को देखते रह गए। यही थी क्या उनकी पत्नी, जिसके हाथों के कोमल स्पर्श, जिसकी मुस्कान की याद में उन्होंने संपूर्ण जीवन काट दिया था? उन्हें लगा कि वह लावण्यमयी युवती जीवन की राह में कहीं खो गई और उसकी जगह आज जो स्त्री है, वह उनके मन और प्राणों के लिए नितांत अपरिचिता है। गाढ़ी नींद में डूबी उनकी पत्नी का भारी-सा शरीर बहुत बेडौल और कुरूप लग रहा था, चेहरा श्रीहीन और रूखा था। गजाधर बाबू देर तक निस्संग दृष्टि से पत्नी को देखते रहे और फिर लेटकर छत की ओर ताकने लगे।

7. अगले दिन वह सुबह घूमकर लौटे तो उन्होंने पाया कि बैठक में उनकी चारपाई नहीं है। अन्दर जाकर पूछने ही वाले थे कि उनकी दृष्टि रसोई के अन्दर बैठी पत्नी पर पड़ी। उन्होंने यह कहने को मुँह खोला कि बहू कहाँ है; पर कुछ याद कर चुप हो गए। पत्नी की कोठरी में झाँका तो अचार, रज़ाइयों और कनस्तरों के मध्य अपनी चारपाई लगी पाई। गजाधर बाबू ने कोट उतारा और कहीं टाँगने को दीवार पर नज़र दौड़ाई। फिर उसे मोड़कर अलगनी के कुछ कपड़े खिसकाकर एक किनारे टाँग दिया। कुछ खाए बिना ही अपनी चारपाई पर लेट गए। कुछ भी हो, तन आखिरकार बूढ़ा ही था। सुबह-शाम कुछ दूर टहलने अवश्य चले जाते, पर आते-आते थक उठते थे। गजाधर बाबू को अपना बड़ा-सा, खुला हुआ क्वार्टर याद आ गया। निश्चिन्त जीवन, सुबह पैसेंजर ट्रेन आने पर स्टेशन की चहल-पहल, चिरपरिचित चेहरे और पटरी पर रेल के पहियों की खट्-खट्, जो उनके लिए मधुर संगीत की तरह था।

8. गजाधर बाबू ने आहत दृष्टि से पत्नी को देखा। उन्होंने अनुभव किया कि वह पत्नी व बच्चों के लिए केवल धनोपार्जन के निमित्त मात्र हैं। जिस व्यक्ति के अस्तित्व से पत्नी माँग में सिंदूर डालने की अधिकारिणी है, समाज में उसकी प्रतिष्ठा है, उसके सामने वह दो वक्त भोजन की थाली रख देने से सारे कर्त्तव्यों से छुट्टी पा जाती है। वह घी और चीनी के डिब्बों में इतनी रमी हुई है कि अब वही उसकी संपूर्ण दुनिया बन गई है। गजाधर बाबू उनके जीवन के केंद्र नहीं हो सकते। उन्हें तो अब उनकी शादी के लिए भी उत्साह बुझ गया। किसी बात में हस्तक्षेप न करने के निश्चय के बाद भी उनका अस्तित्व उस वातावरण का एक भाग न बन सका। उनकी उपस्थिति उस घर में ऐसी असंगत लगने लगी थी,

जैसे सजी हुई बैठक में उनकी चारपाई थी। उनकी सारी खुशी एक गहरी उदासीनता में डूब गई।

9. नरेन्द्र ने बड़ी तत्परता से बिस्तर बाँधा और रिक्शा बुला लाया। गजाधर बाबू का टिन का बक्स और पतला-सा बिस्तर उस पर रख दिया गया। नाश्ते के लिए लड्डू और मठरी की डलिया हाथ में लिए गजाधर बाबू रिक्शे पर बैठ गए। एक दृष्टि उन्होंने अपने परिवार पर डाली और फिर दूसरी ओर देखने लगे और रिक्शा चल पड़ा।

उनके जाने के बाद सब अन्दर लौट आए। बहू ने अमर से पूछा, ''सिनेमा ले चलिएगा न?'' बसन्ती ने उछलकर कहा, ''भइया, हमें भी।''

गजाधर बाबू की पत्नी सीधे चौके में चली गईं। बची हुई मठरियों को कटोरदान में रखकर अपने कमरे में लाईं और कनस्तरों के पास रख दिया, फिर बाहर आकर कहा, ''अरे नरेन्द्र, बाबूजी की चारपाई कमरे से निकाल दे। उसमें चलने तक की जगह नहीं है।''

निबंध

लोभ और प्रीति (रामचंद्र शुक्ल)

1. विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति होने पर लोभ वह सात्विक रूप प्राप्त करता है जिसे प्रीति या प्रेम कहते हैं। जहाँ लोभ सामान्य या जाति के प्रति होता है वहाँ वह लोभ ही रहता है। पर जहाँ किसी जाति के एक ही विशेष व्यक्ति के प्रति होता है वहाँ वह 'रुचि' या 'प्रीति' का पद प्राप्त करता है। लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम विशेषोन्मुख। कहीं कोई अच्छी चीज सुनकर दौड़ पड़ना लोभ है। किसी विशेष वस्तु पर इस प्रकार मुग्ध रहना कि उससे कितनी ही अच्छी–अच्छी वस्तुओं के सामने आने पर भी उस विशेष वस्तु से प्रवृत्ति न हटे, रुचि या प्रेम है। किसी स्त्री या पुरुष के रूप की प्रशंसा सुनते ही पहला भाव लोभ का होगा। किसी को हमने बहुत सुंदर देखा और लुभा गए, उसके पीछे दूसरे को उससे भी सुंदर देखा तो उस पर लुभा गए। जब तक प्रवृत्ति का यह व्यभिचार रहेगा, तब तक हम रूप लोभी ही माने जाएँगे। जब हमारा लोभ किसी एक ही व्यक्ति पर स्थिर हो जाएगा, हमारी वृत्ति एकनिष्ठ हो जाएगी, तब हम प्रेमी कहे जाने के अधिकारी होंगे। पर साधारणतः मन की ललक यदि वस्तु के प्रति होती है तो लोभ और किसी प्राणी या मनुष्य के प्रति होती है तो प्रीति कहलाती है।

2. कोई वस्तु हमें बहुत अच्छी लगी, किसी वस्तु से हमें बहुत सुख या आनंद मिला, इतने ही पर दुनिया में यह नहीं कहा जाता कि हमने लोभ किया। जब संवेदनात्मक अवयव के साथ इच्छात्मक अवयव का संयोग होगा अर्थात् जब उस वस्तु को प्राप्त करने की, दूर न करने की, नष्ट न होने देने की इच्छा प्रकट होगी तभी हमारा लोभ लोगों पर खुलेगा। इच्छा लोभ या प्रीति का ऐसा आवश्यक अंग है कि यदि किसी को कोई बहुत अच्छा या प्रिय लगता है तो लोग कहते हैं कि वह उसे चाहता है।

3. प्राप्ति की प्रतिषेधात्मक इच्छा की सदोषता और निर्दोषता लोभ के विषय पर निर्भर रहती है। लोभ के विषय दो प्रकार के होते हैं–सामान्य और विशेष। अच्छा खाना, अच्छा कपड़ा, अच्छा घर तथा धन, जिससे ये सब वस्तुएँ सुलभ होती हैं, सबको भाता है, सब उसकी प्राप्ति की आकांक्षा करते हैं। ये लोभ के सामान्य विषय हुए, जिन पर प्रायः मनुष्य–मात्र का लक्ष्य रहता है, अतः इनके प्रति जो लोभ होता है उस पर बहुत लोगों का ध्यान जाता है। पर यदि किसी को गुलाब–जामुन या विशेष बूटा की छींट बहुत अच्छी लगे और वह उसे प्राप्त करना या न देना चाहे, तो उसके इस लोभ पर बहुत कम लोगों का ध्यान जाएगा और जिनका ध्यान जायगा भी उन्हें वह खटकेगा नहीं। ऐसे लोभ को वे रुचि कहेंगे।

4. एक लोभ से दूसरे लोभ का निवारण भी होता है जिससे लोभी में अन्य वस्तुओं के त्याग का साहस आता है। विशेष विषय–गत लोभ यदि बहुत प्रबल और सच्चा हुआ तो लोभी के त्याग का विस्तार बहुत बड़ा होता है। लोभ तो उसे एक विशेष और निर्दिष्ट वस्तु से है अतः उसके अतिरिक्त अन्य अनेक वस्तुओं का त्याग वह उसके लिए कर सकता है। विश्वामित्र एक गाय के लिए. अपना सारा

राजपाट देने को तैयार हो गए थे। अन्य का त्याग अनन्य और सच्चे लोभ की पहचान है।

5. यदि मनुष्य–समाज में सब के लोभ के लक्ष्य भिन्न–भिन्न होते तो लोभ को बुरा कहने वाले कहीं न मिलते। यदि एक साथ रहने वाले दस आदमियों में से कोई गाय बहुत चाहता है, कोई घोड़ा, कोई कपड़ा, कोई ईंट, कोई पत्थर, कोई सोना, कोई चाँदी, कोई ताँबा और इन वस्तुओं में से किसी को शेष सब वस्तुओं को प्राप्त कराने की कृत्रिम शक्ति न दी जाती, तो एक के लोभ से दूसरे को कोई कष्ट न पहुँचता और दूसरी बात यह होती कि लोभ का एक बुरा लक्षण जो असंतोष है, उसकी भी एक सीमा हो जाती–कोई कितनी गायें रखता, कितने घोड़े बाँधता, कहाँ तक सोना चाँदी इकट्ठी करता। पर विनिमय की कठिनता दूर करने के लिए मनुष्यों ने कुछ धातुओं में सब आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कराने का कृत्रिम गुण आरोपित किया जिसमें मनुष्य मात्र की सांसारिक इच्छा और प्रयत्न का लक्ष्य एक हो गया, सब की टकटकी टके की ओर लग गई।

6. उपवन की शोभा सबको लुभाती है। यदि कोई नित्य किसी के बगीचे में जाकर टहला करे तो उसका क्या जाता है ? यदि हम किसी वस्तु पर लुभाकर उससे उतना ही सम्पर्क रखना चाहते हैं जितना सब लोग एक साथ रख सकते हैं, तो हमारा लोभ किसी की आँखों में नहीं खटक सकता। बगीचे को आँख से एक साथ बहुत लोग देख सकते हैं, पर उसमें के फल नहीं खा सकते। जहाँ देखने का भी दाम लगता है या कुछ आदमियों का देखना बिना बंद किये देखा नहीं जा सकता, वहाँ दृष्टि–सम्पर्क की इच्छा भी मुश्किल में डाल देती है। पर जहाँ एक की इच्छा दूसरे की इच्छा का बाधक न होकर साधक होती है, वहाँ एक ही वस्तु का लोभ रखने वाले बहुत से लोग बड़े सद्भाव के साथ रहते हैं। लुटेरे या डाकू इसी प्रकार दल–बद्ध होकर काम करते हैं।

7. जिस स्थान पर कोई बहुत दिनों तक रह आता है उसे छोड़ते हुए उसे दुःख होता है। पशु और बालक भी जिनके साथ अधिक रहते हैं उन्हें परच जाते हैं। यह 'परचना' परिचय से निकलता है। परिचय प्रेम का प्रवर्तक है। बिना परिचय के प्रेम नहीं हो सकता। यदि देश–प्रेम के लिए हृदय में जगह करनी है तो देश के स्वरूप से परिचित और अभ्यस्त हो जाओ। बाहर निकलो तो आँखें खोलकर देखो कि खेत कैसे लहलहा रहे हैं, नाले झाड़ियों के बीच से कैसे बह रहे हैं, टेसू के फूलों से वनस्थली कैसी लाल हो रही है, चौपायों के झुंड चरते हैं, चरवाहे तान लड़ा रहे हैं, अमराइयों के बीच में गाँव झाँक रहे हैं। उनमें घुसो, देखो तो क्या हो रहा है। जो मिले उनसे दो–दो बातें करो, उनके साथ किसी पेड़ की छाया के नीचे घड़ी–आध–घड़ी बैठ जाओ और समझो कि ये सब हमारे हैं। इस प्रकार जब देश का रूप तुम्हारी आँखों में समा जायगा, तुम उसके अंग–प्रत्यंग से परिचित हो जाओगे, तब तुम्हारे अंतःकरण में इस इच्छा का उदय होगा कि वह हमसे कभी न छूटे, वह सदा हरा भरों और फला–फूला रहे, उसके धन–धान्य की वृद्धि हो, उसके सब प्राण सुखी रहे।

8. लोभ का सबसे प्रशस्त रूप वह है जो रक्षा मात्र की इच्छा का प्रवर्तक होता है, जो मन में यही वासना उत्पन्न करता है कि कोई चीज बनी रहे, चाहे वह हमारे किसी उपयोग में आए या न आए। इस लोभ में दोष का लेश उसी अवस्था में आ सकता है जब कि वह वस्तु ऐसी हो जिससे किसी को कोई बाधा या हानि

पहुँचती हो। कोई सुंदर कृष्णसार मृग नित्य आकर खेती की हानि किया करता है। उसके सौंदर्य पर मुग्ध होकर उसकी रक्षा चाहने वाला यदि बराबर उसकी रक्षा में प्रवृत्त रहेगा तो बहुतों से उसकी अनबन हो सकती है। वह लोभ धन्य है जिससे किसी के लोभ का विरोध नहीं और लोभ की जो वस्तु अपने सब लोभियों को एक दूसरे का लोभी बनाए रहती है वह भी परम पूज्य है। घर का प्रेम, पुर या ग्राम का प्रेम, देश का प्रेम उसी पवित्र लोभ के क्रमशः विस्तृत रूप हैं।

9. धन से अनेक सुखों की प्राप्ति और अनेक कष्टों का निवारण होता है अथवा यों कहिए कि धन के बिना संसार में रहना संभव नहीं। संसार में जो इतने लोग धन इकटठा करते दिखाई देते हैं उनमें से कुछ तो घोर कष्ट के निवारण के लिए, कुछ अधिक सुख की प्राप्ति के लिए, कुछ भविष्य में सुख के अभाव या कष्ट की आशंका से और कुछ बिना किसी उद्देश्य–भावना के। इनमें से प्रथम श्रेणी के लोग तो धन की चाहे जितनी प्रबल इच्छा करें, उसके लिए चाहे जितने आतुर हों, लोभी नहीं कहला सकते। धन के बिना जिन्हें पेट भर अन्न नहीं मिलता, जो शीत और ताप से अपने शरीर की रक्षा नहीं कर सकते, उन्हें जो लोभी कहे वे बड़े भारी लोभी और बड़े भारी क्रूर हैं। दूसरी श्रेणी के लोगों पर से लोभ के आरोप की संभावना क्रमशः बढ़ते–बढ़ते चौथी श्रेणी के लोगों पर जाकर निश्चय–कोटि को पहुँच जाती है। कष्ट निवारण की इच्छा, अधिक सुखप्राप्ति की इच्छा, सुखभाव या कष्ट की आशंका – ये तीनों धन और उसकी प्राप्ति की इच्छा के बीच ओट या व्यवधान के रूप में रहती है।

10. अपने प्रेम की सूचना देने के उपरांत प्रेमी प्रिय के ह्रदय में अपनी ओर कुछ भावों की प्रतिष्ठा चाहता है। पहले कहा जा चुका है कि सहसा उत्पन्न लोभ या प्रीति का प्रथम संवेदनात्मक अवयव है 'अच्छा लगना'। वस्तु के संबंध में तो उसी वस्तु का अच्छा लगना काफी होता है। लोभियों को इस फेर में नहीं पड़ना पड़ता कि जो वस्तु उन्हें अच्छी लग रही है उसे वे भी अच्छे लगें पर प्रेमी यह चाहने लगता है कि जिस प्रकार प्रिय मुझे अच्छा लगता है उसी प्रकार मैं भी प्रिय को अच्छा लगूँ। वह अपना सारा अच्छापन किसी न किसी बहाने उसके सामने रखना चाहता है।

11. दूसरों की ओर द्रवित करने वाली ह्रदय की दो कोमल वृत्तियाँ हैं– करुणा और प्रेम। इनमें से प्रेम का पात्र होने के लिए भिन्न–भिन्न प्रकार की विशिष्टता अपेक्षित होती है। इससे दूसरे के ह्रदय में प्रेम उत्पन्न कर सकने का निश्चय किसी को जल्दी नहीं हो सकता। पर दया का पात्र होने के लिए केवल दुःख या पीड़ा का प्रदर्शन ही पर्याप्त होता है। दया का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है। दया मनुष्यमात्र का धर्म है और प्राणि–मात्र उसके अधिकारी हैं। दया यह नहीं देखने जाती कि दुखी या पीड़ित कौन और कैसा है। इसी से प्रेमी कभी तो यह चेष्टा करता दिखाई पड़ता है कि वह भी प्रिय को अच्छा लगे और कभी ऐसे उपायों का अवलम्बन करता है जिनसे प्रिय के ह्रदय में उसके ऊपर दया उत्पन्न हो। दया उत्पन्न करके वह प्रिय के अंतस में प्रेम भी भूमिका बाँधना चाहता है। वह समझता है कि दया उत्पन्न होगी तो धीरे–धीरे प्रेम भी उत्पन्न हो ही जाएगा। वह वियोग की अपनी दारुण वेदना प्रिय के कानों तक बराबर पहुँचाता रहता है।

12. मरण से बढ़कर करुणा का विषय और क्या हो सकता है ? शत्रु तक का मरना सुनकर सहानुभूति के एक–आध शब्द मुँह से निकल आते हैं। प्रिय के मुख से

निकले हुए सहानुभूति शब्द–सा प्रिय संसार में और कोई शब्द नहीं हो सकता। 'बेचारा बहुत अच्छा था' प्रिय के मुँह से इस प्रकार के कुछ शब्दों की संभावना पर ही आशिक लोग अपने मर जाने की कल्पना बड़े आनंद से किया करते हैं। जबकि सहानुभूति के एक शब्द का इतना मोल है तब अश्रु का तो कोई मोल ही नहीं हो सकता, प्राण के बदले में भी वह सस्ता ही जँचेगा। यदि प्रेमी को यह निश्चय हो जाय कि मर जाने पर प्रिय की आँखों में आई हुई आँसू की एक बूँद वह देख सकेगा तो वह अपना शरीर छोड़ने के लिए तैयार हो सकता है।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

कुटज (हजारीप्रसाद द्विवेदी)

1. इन्हीं में एक छोटा–सा बहुत ही ठिगना –पेड़ है, पत्ते चौड़े भी हैं, बड़े भी हैं। फूलों से तो ऐसा लदा है कि कुछ पूछिए नहीं। अजीब–सी अदा है, मुस्कराता जान पड़ता है। लगता है, पूछ रहा है कि क्या तुम मुझे भी नहीं पहचानते ? पहचानता तो हूँ, अवश्य पहचानता हूँ। लगता है, बहुत बार देख चुका हूँ। पहचानता हूँ उजाड़ के साथी, तुम्हें अच्छी तरह पहचानता हूँ।

2. नाम इसलिए बड़ा नहीं है कि वह नाम है। वह इसलिए बड़ा होता है कि उसे सामाजिक स्वीकृति मिली होती है। रूप व्यक्ति सत्य है, नाम समाज सत्य। नाम उस पद को कहते हैं जिस पर समाज की मुहर लगी होती है। आधुनिक शिक्षित लोग जिसे 'सोशल सैंक्शन' कहा करते हैं। मेरा मन नाम के लिए व्याकुल, समाज द्वारा स्वीकृत इतिहास द्वारा प्रमाणित समष्टि– मानव की चित्त– गंगा में स्नान!

3. कुटज के ये सुंदर फूल बहुत बुरे तो नहीं है। जो कालिदास के काम आया हो उसे ज्यादा इज्जत मिलनी चाहिए। मिली कम है। पर इज्जत तो नसीब की बात है। रहीम को मैं बड़े आदर के साथ स्मरण करता हूँ। दरियादिल आदमी थे पाया सो लुटाया। लेकिन दुनिया है कि मतलब से मतलब है, रस चूस लेती है, छिलका और गुठली फेंक देती है। सुना है, रस चूस लेने के बाद रहीम को भी फेंक दिया गया था। एक बादशाह ने आदर के साथ बुलाया, दूसरे ने फेंक दिया! हुआ ही करता है। इससे रहीम का मोल घट नहीं जाता। उनकी फक्कड़ाना मस्ती कहीं गयी नहीं। अच्छे–भले कद्रदान थे। लेकिन बड़े लोगों पर भी कभी–कभी ऐसी वितृष्णा सवार होती है कि गलती कर बैठते हैं।

4. संस्कृत भाषा के अनेक शब्द जो अब भारतीय संस्कृति के अविच्छेद्य अंग बन गए हैं इसी श्रेणी की भाषा के हैं। कमल, कुडमल, कम्ब, कम्बल, ताम्बूल आदि शब्द ऐसे ही बताए जाते हैं। पेड़–पौधों, खेती के उपकरणों और औजारों के नाम भी ऐसे हैं। 'कुटज' भी हो तो क्या आश्चर्य ? संस्कृत भाषा में शब्दों के संग्रह में कभी छूत नहीं मानी। न जाने किस किस नस्ल के कितने शब्द उसमें आकर अपने बन गए हैं।

5. यह जो मेरे सामने कुटज का लहराता पौधा खड़ा है वह नाम और रूप दोनों में अपनी अपराजेय जीवनी–शक्ति की घोषणा कर रहा है। इसीलिए यह इतना आकर्षक है नाम है कि हजारों वर्ष से जीता चला आ रहा है। कितने नाम आये और गये। दुनिया उनको भूल गयी, वे दुनिया को भूल गए। मगर कुटज है कि संस्कृत की निरंतर स्फीयमान शब्दराशि में जो जम के बैठा सो बैठा ही है। और रूप की तो बात ही क्या है! बलिहारी है इस मादक शोभा की। चारों ओर कुपित यमराज के दारुण निश्वास के समान धधकती लू में यह हरा भी है और भरा भी है, दुर्जन के चित्त से भी अधिक कठोर पाषाण की कारा में रुद्ध अज्ञात जलस्रोत से बरबस रस खींचकर सरस बना हुआ है।

6. दुनिया में त्याग नहीं है, प्रेम नहीं है, परार्थ नहीं है, परमार्थ नहीं है– है केवल प्रचण्ड स्वार्थ भीतर की जिजीविषा–जीते रहने की प्रचण्ड इच्छा–ही अगर बड़ी बात हो तो फिर यह सारी बड़ी–बड़ी बोलियाँ जिनके बल पर दल बनाये जाते हैं, शत्रुमर्दन का अभिनय किया जाता है, देशोद्धार का नारा लगाया जाता है, साहित्य

और कला की महिमा गायी जाती है, झूठ है। इसके द्वारा कोई न कोई अपना बड़ा स्वार्थ सिद्ध करता है।

7. कुटज क्या केवल जी रहा है। वह दूसरे के द्वार पर भीख माँगने नहीं जाता, कोई निकट आ गया तो भय से अधमरा नहीं हो जाता, नीति और धर्म का उपदेश नहीं देता फिरता, अपनी उन्नति के लिए अफसरों का जूता नहीं चाटता फिरता, दूसरों को अवमानित करने के लिए ग्रहों की खुशामद नहीं करता। आत्मोन्नति हेतु नीलम नहीं धारण करता, अँगूठियों की लड़ी नहीं पहनता, दाँत नहीं निपोरता, बगलें नहीं झाँकता। जीता है और शान से जीता है–काहे वास्ते, किस उद्देश्य से ? कोई नहीं जानता। मगर कुछ बड़ी बात है। स्वार्थ के दायरे से बाहर की बात है।

8. जो समझता है कि वह दूसरों का उपकार कर रहा है वह अबोध है, जो समझता है कि दूसरे उसका अपकार कर रहे हैं वह भी बुद्धिहीन है। कौन किसका उपकार करता है, कौन किसका अपकार कर रहा है ? मनुष्य जी रहा है, केवल जी रहा है, अपनी इच्छा से नहीं, इतिहास–विधाता की योजना के अनुसार। किसी को उससे सुख मिल जाए, बहुत अच्छी बात है। नहीं मिल सका, कोई बात नहीं; परंतु उसे अभिमान नहीं होना चाहिए। सुख पहुँचाने का अभिमान यदि गलत है, तो दुःख पहुँचाने का अभिमान तो नितांत गलत है।

9. दुख और सुख तो मन के विकल्प हैं। सुखी वह है जिसका मन वश में है, दुखी वह है जिसका मन परवश है। परवश होने का अर्थ है खुशामद करना, दाँत निपोरना, चाटुकारिता, हाँ–हजूरी। जिसका मन अपने वश में नहीं है वही दूसरे के मन का छंदावर्तन करता है, अपने को छिपाने के लिए मिथ्या आडम्बर रचता है, दूसरों को फँसाने के लिए जाल बिछाता है। कुटज इन सब मिथ्याचारों से मुक्त है। वह वशी है। वह वैरागी है।

सहस्र फणों का मणि–दीप (कुबेरनाथ राय)

1. अभी कल था उज्जयिनी और महाकाल की आरती के समय वह रसिया, छैल–छबीला हिप्पी वेश धारण किया मैंने कि बात पूछो मत, शत–शत लीला–कटाक्षों का शिकार बना, यहाँ तक कि कौतुकवश भवानी ने भी एक बार अपनी उड़ती–सी चकित दृष्टि डाल दी। इस प्रकार असंख्य नेत्रों के लीलाशर से विद्ध होता हुआ मैं भागा पूरब देश की ओर बिना रुके हुए शोण–सदानीरा–करतोया–त्रिस्ता लोहित कलङ–दिखौ आदि के आमंत्रण को ठुकराता हुआ एकदम जा रुका भारतवर्ष की नृत्य–भूमि में मणिपुर नदी के तट पर, ठीक माइराङ के पड़ोस में और वहाँ पर मैंने एक अपूर्व दृश्य देखा। नदी–जल में मुख धोती हुई एक काबुई कन्या जिसका रूप–बिंब मणिपुर नदी के निर्मल जल में प्रतिबिंबित मेरे रूप के साथ अचानक संलग्न हो गया और मैं इससे उत्कंठित हो वहीं पर उतर पड़ा मानुष–तनु धारण करके। वह छाया–मिथुन मुझे धरती पर खींच लाया।

2. इतिहासकार कहते हैं कि मणिपुरी जन समाज और मणिपुर राज्य के नागागण 'कूकी चीन' नागाओं के वंशज हैं। आज मणिपुरी अपने को 'मेथेई' कहते हैं और इतिहासकारों के अनुसार ये बर्मी किरात हैं जो बहुत प्राचीनकाल में लुशाई पर्वत (मिजोरम) और मणिपुर में आकर बस गये थे। तथ्य तो यह है कि मणिपुर कई जातियों के प्रवाह–प्रति–प्रवाह का 'घाट–स्थल' रहा है। पश्चिम से आर्यों का जत्था समय–समय पर पूरब की ओर चलता रहा है और आकर यहीं मणिपुर–नागाप्रदेश तक रुक जाता रहा है। ईशानकोण से दक्षिण–चीन और बर्मा की किरात जनजातियाँ तथा अग्निकोण से मानखमेर अर्थात् स्वर्ण 'निषादों' की टोलियाँ (जिनके अवशेष हैं आज के खासी गण) ऊपर से नीचे तथा नीचे से ऊपर आती–जाती रही हैं और इसी मणिपुर के पड़ोस को पार करती आगे बढ़ती गयी हैं। फलतः उनके कुछ अंश यहाँ पर भी बस जाते रहे हैं। भाषा और नस्ल के हिसाब से आधुनिक मणिपुरी किरातवंशीय होते हुए भी उपर्युक्त प्रवाहों के समन्वय के मध्य रहने के कारण अपना एक सर्वथा भिन्न व्यक्तित्व रखता है। पुरानी मणिपुरी भाषा में 'गुरु' 'पोइरोतान' (पुरोहितान्) और 'काबुई' (काव्यिक या कवि) आदि शब्द पुराने आर्य प्रभाव के घोतक हैं। मणिपुरी जाति में 'मेथेई' जनों का प्राधान्य है।

3. इधर तो दामिनी का हाथ पकड़े मैं सौंदर्यलोक की जासूसी करने उतरा हूँ। दामिनी, अर्थात् वही स्वर्णगात्र काबुई कन्या जिसके चेहरे के बिंब से मेरा मुख बिंब जा मिला था प्रथम–प्रथम मणिपुर नदी के निर्मल जल में। मैं उसी के साथ–साथ चल रहा हूँ अगरुवनों की शांत श्यामल छाया में। शाखाओं के अग्रभाग पिंडीभूत हो गये हैं और उनसे कालागुरु मंह–मंह फूट रहा है। इसी वृक्ष की छालों पर प्राचीन मणिपुरी पुराण लिखे गए हैं एक सर्वथा विचित्र लिपि में और उनके माध्यम से अतीत का बहुरूपी व्यास तरह–तरह की कथाएँ सुना जाता है। मणिपुरी लोक–धर्म की मंत्र–संहिता और लोकायत तथा शास्त्रीय

पुराण–उपाख्यान–नीति वचन आदि इन अगरुवल्कलों से बाहर यदि कहीं मौजूद हैं तो वह स्थान है काबुई जनों की स्मृति और कंठ।

4. देव दंपति शिव और पार्वती एक–दूसरे का हाथ पकड़कर आकाश में विचरण करने लगे। उपयुक्त नृत्य भूमि की खोज में जो वृंदावन जैसी ही एकांत और मनोरम हो। उनकी दृष्टि भरतखंड के ईशान–कोण पर पड़ी और वे भोजपत्रवन–चंदनवन–अगरुवन को पार करते हुए मणिपुर उपत्यका के एक गिरि श्रृंग पर उतर गये। मार्ग में इस आकाशचारी दम्पति को उड़ती हंस वलाकाओं ने, पथ का संकेत दिया था। वे वलाका–पथ का अनुगमन करते हुए जब इस भूमि में उतरे तो उन्होंने आश्चर्य से देखा मान–सरोवर से कई गुना बड़ा, वैसा ही स्फटिक स्वच्छ जल वाला एक महाह्रद! चरों ओर जल ही जल। जल में कीड़ा करते हुए असंख्य चांदी–सोने की प्रभा वाले पक्षीगण।

5. मणिपुर मूलतः शिव के 'रास नृत्य' की भूमि रहा है। इसी 'शिव–रास' पर वर्तमान 'कृष्ण–रास' का आरोपण और विकास तो हाल की घटना है, 18वीं शती की। मणिपुर के अंदर शताब्दियों से प्रचलित सारे कोमलवृत्ति प्रधान 'नृत्य' इसी के अंदर अंतर्भुक्त कर दिये गये। आधुनिक मणिपुरी रासनृत्य आर्यवंशीय यादवों के 'रास' और किरातवंशीय मणिपुरियों के 'लास्य' का सम्मिश्रण है। .... इसी भाँति शिव ने अपने दो हाथों से मृदंग वादन करते हुए और शेष दो हाथों से डमरू तथा त्रिशूल का संचालन करते हुए जिन पुरुषोचित नृत्यों का प्रतिपादन किया वे 'तांडव' कहलाये और उसी तांडव के हल्के–फुल्के रूप मणिपुरी लोकनृत्यों यथा 'लाईहारौबा' में, मणिपुर प्रदेश के कूकी नागा आदि जनजातियों के युद्ध नृत्य, शिकार नृत्य, बर्छानृत्य आदि में आज भी प्रचलित हैं। तांडव के वे लोकायत संस्करण अपने शुद्ध रूप में पड़ोस के नागाओं में मिलेंगे। लास्य प्रधान रास नृत्य कोमल होता है, गोया मायावी पग–स्तोत्र पाठ कर रहे हों।

6 मैं और वह। हम दोनों। अर्थात् मेघ और दामिनी सारी रात भटकते रहे। मणिपुर उपस्यका के अगरु वन, चंदन वन, देवदारु वन के बीच। आखिर यह दामिनी है कौन ? मैंने कहा था न कि एक रानियों जैसी रूपसी और तेजस्वी 'काबुई' अर्थात् कवि गोत्रीय कन्या। मेरे प्रिय बंधु इससे ज्यादा जानने के न तो तुम अधिकारी हो और न इसकी आवश्यकता है, तो भी तुम्हारी जिज्ञासा शांत करने के लिए बताये देता हूँ, सुन लो, यह नृत्य तरंगयित देह वाली प्रभा–भास्वर छोकरी और कोई नहीं वस्तुतः मेरे ह्रदय में छिपे वज्र का ही रूपांतर है। मेरे ह्रदय में छिपा हुआ निर्मल स्फटिक वर्ण संयम का जो वज्र है, वही मणिपुर के इस संदर्भ लोक में आकर सौम्यकांत तनुधारण करके मेरे सम्मुख उपस्थित हो गया था।

संदर्भ :

1. काबुई कन्या – मणिपुर प्रदेश की एक जाति विशेष

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

QR Code -website ignou.ac.in

QR Code -e Content-App

QR Code - IGNOU-Facebook (@OfficialPageIGNOU)

QR Code Twitter Handel (OfficialIGNOU)

INSTAGRAM (Official Page IGNOU)

QR Code -e Gyankosh-site

IGNOU SOCIAL MEDIA

QR Code generated for quick access by Students
IGNOU website
eGyankosh
e-Content APP
Facebook (@offical Page IGNOU)
Twitter (@ Offical IGNOU)
Instagram (official page ignou)

Like us, follow-us on the University Facebook Page, Twitter Handle and Instagram

To get regular updates on Placement Drives, Admissions, Examinations etc.

MPDD/IGNOU/P.O.- 22.5K/Febuary, 2021

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

ISBN : 978-93-90773-53-4